I.S.S.N. 0975-6531

₹70/-

वैचारिकी

VAICHARIKI

जुलाई-अगस्त 2022 * भाग 38 - अंक 4

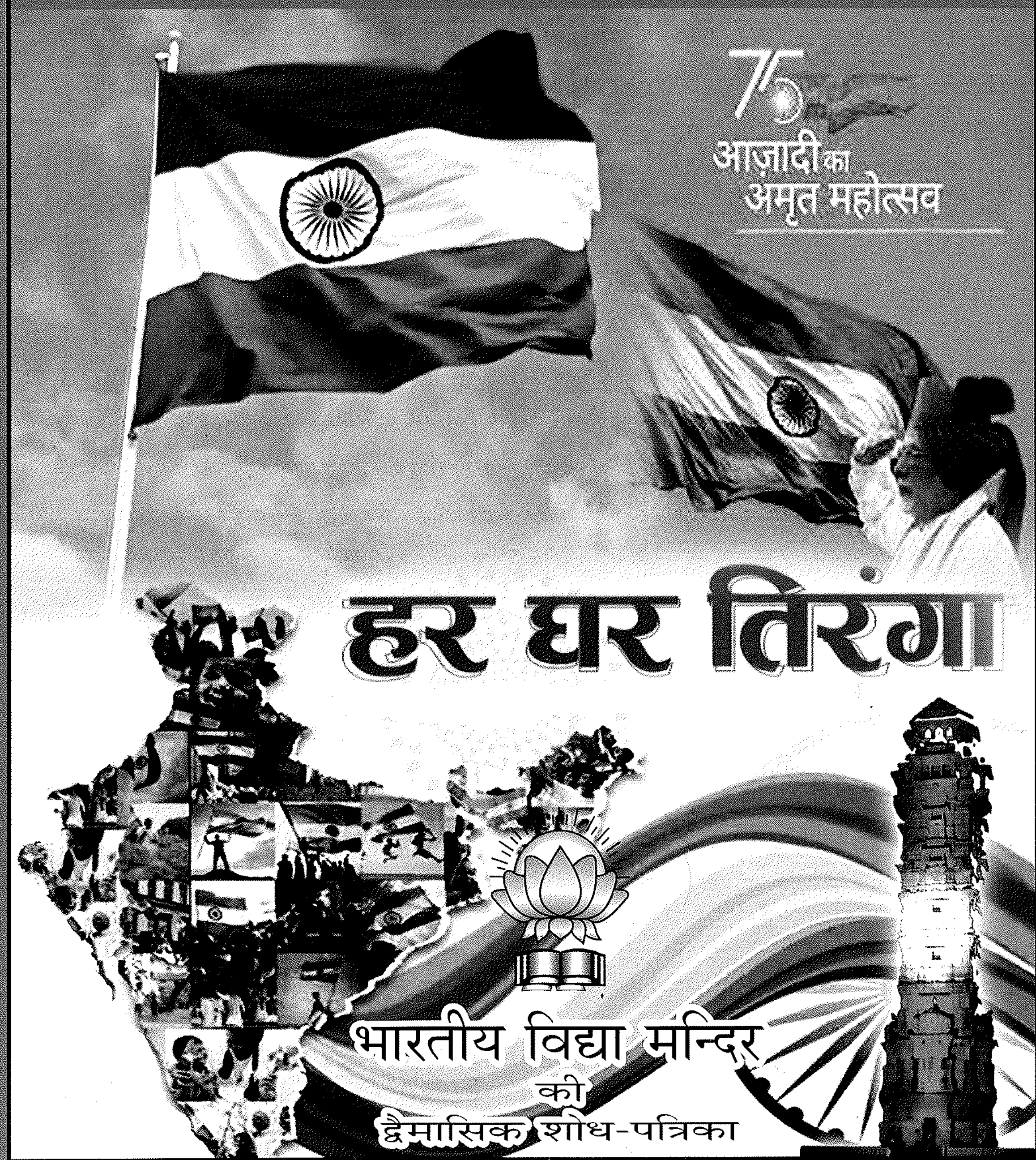

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों-शहीदों को कृतज्ञ नमन

रानी लक्ष्मीबाई

नाना साहेब

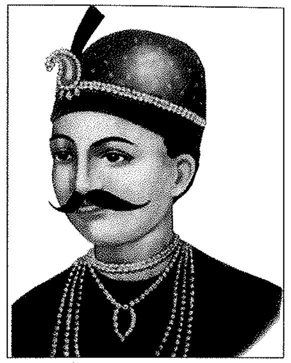
तांत्या टोपे

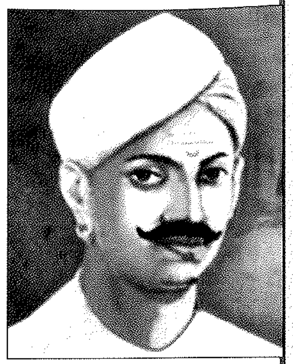
मंगल पांडेय

वीर कुंवर सिंह

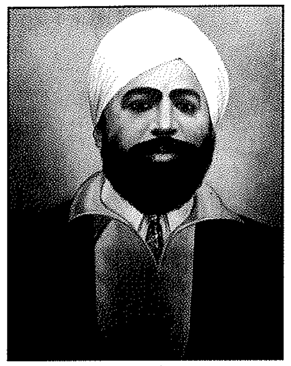
उधम सिंह

लाला लाजपत राय

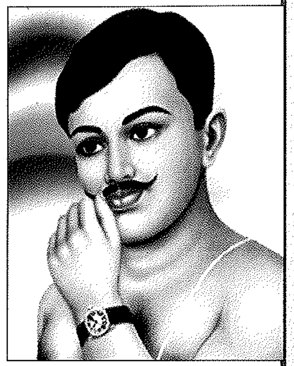
चंद्रशेखर आजाद

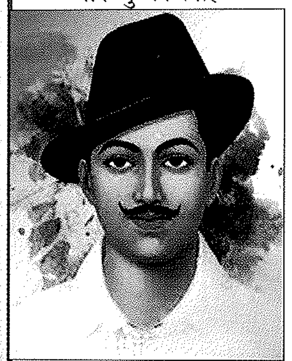
भगत सिंह

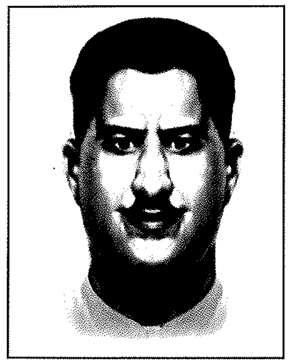
राम प्रसाद बिस्मिल

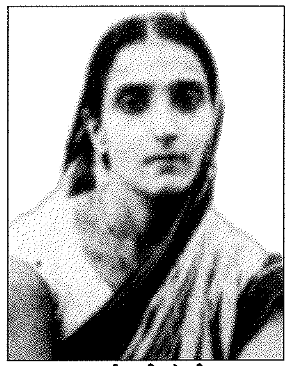
दुर्गावती देवी

खुदीराम बोस

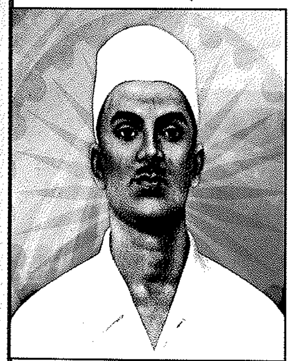
सुखदेव

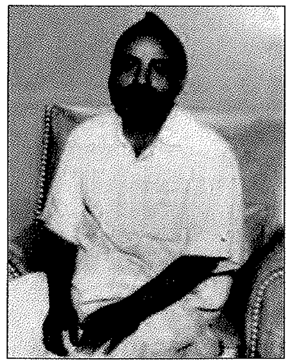
गोपाल पाठा

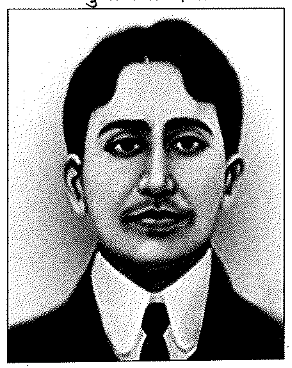
मदन लाल ढिंगरा

वीर सावरकर

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष-प्रधान सम्पादक
डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा
सम्पादक
डॉ. बाबूलाल शर्मा
प्रबंध सम्पादक
शंकरलाल सोमानी

योगः कर्मसु कौशलम

वसुधैव कुटुम्बकम

कार्यालय
भारतीय विद्या मंदिर
12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी
कोलकाता-700087
दूरभाष : 033-71001614
ई-मेल :
bvm.vaicharikí@gmail.com
वेबसाइट :
www.bharatiyavidyamandir.org

सदस्यता शुल्क
एक प्रति 70/- रुपये
वार्षिक 400/- रुपये
द्वैवार्षिक 800/- रुपये

सदस्यता शुल्क भेजने हेतु :–
Payee's Name :
BHARATIYA VIDYA MANDIR
Current A/c.No. : 32030320176
Bank : State Bank of India
Branch : New Market
IFSC Code No. : SBIN0004662

I.S.S.N. 0975-6531 **वैचारिकी** वर्ष : 38 अंक 4

(धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला)
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त

जुलाई-अगस्त 2022 • आषाढ़ शुक्ल 2, भाद्रपद शुक्ल 4, वि. सं. 2079 • रु. 70

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** 03
- **सम्पादकीय** 05
- **भारत पर आर्य-आक्रमण : एक विमर्श** – प्रो. अभिराज राजेंद्र मिश्र 08
- **भारत पर आर्य आक्रमण का सिद्धांत : एक साजिश** - केशव प्रसाद कार्या 14
- **लोक साहित्य का सैद्धांतिक विवेचन** – डॉ. भवानी सिंह 16
- **देव भूमि हिमाचल प्रदेश की सांस्कृतिक परंपरा** – छविंदर कुमार 23
- **संस्कृत कथा साहित्य एवं संथाली लोककथाएं : एक दृष्टि** – डॉ. अरुणा, डॉ. सोहनराज 31
- **राजुला मालूशाही : कुमाऊं की प्रेमाख्यानपरक गाथा** – डॉ. हेमचंद्र दुबे 'उत्तर' 36
- **राजस्थान के लोकरंजक पेशेवर करतबबाज**– डॉ. ब्रजेंद्र कुमार सिंघल 40
- **उद्योग के रूप में संस्कृति का संप्रत्यय (सहारनपुर काष्ठ शिल्प-उद्योग के विशेष संदर्भ में)** – ललिता मैनवाल 46
- **सूफी काव्य में संगीत की विविध शैलियां**– डॉ. प्रियंका 52
- **ग्वालियर घराने की षड्ज साधना** – साक्षी कुलश्रेष्ठ 58
- **तिमनगढ़ दुर्ग-नगर के शिलालेख** – रामजीलाल कोली 61
- **ऐतिहासिक कोस मीनारें** – राजगोपाल सिंह वर्मा 64
- **संत कवि नायनमार और आलवार** – डॉ. चंदन कुमारी 67
- **संत साहित्य के सामाजिक संदर्भ** – पूजा शर्मा 71
- **संत परम्परा में कबीर का विद्रोही स्वर** – डॉ. शर्मीला 74
- **भ्रष्टाचार पर राजनीति का घूंघट : कटरा बी आर्जू** – मधुस्मिता दास 78
- **शंकर शेष के नाटकों में स्त्री** – नागप्पा अप्पण्ण सिंगी 81
- **उत्तर आधुनिकता के विभिन्न आयाम** – डॉ. ओम प्रकाश सैनी 83
- **रामभक्ति काव्य-परम्परा : एक अवलोकन** – दिनेश अहिरवार 88
- **पाठक मंच** 92
  स्त्री और 'बैलेंस फॉर बेटर' – डॉ. विद्याकेशव चिटको
- **प्रतिस्वर** 96

- प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
- समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता होगा।

अध्यक्षीय

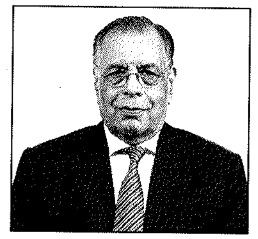

स्वतंत्रता के 75 वर्ष होने के उपलक्ष्य में 'अमृत-महोत्सव' की हार्दिक शुभकामनाएं। स्वतंत्रता अमृत जैसी ही होती है। स्वतंत्रता के इन 75 वर्षों में उन्नति के कई मुकाम हमने हासिल किए हैं। तथापि मुझे वर्तमान समय को देखकर लग रहा है कि हम अपनी महान भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों से कुछ हट रहे हैं। समाज आर्थिक संपन्नता में तो आगे भी है, लेकिन चारित्रिक और मानसिक संपन्नता में कुछ कमजोरी होती जा रही है। हमारे बच्चों का सही इतिहास और संस्कृति की परंपराओं का ज्ञान कम होता जा रहा है। विद्यालयों में जो पाठ्यक्रम है वह, मेरे बचपन में जैसा था वैसा नहीं है, उससे अर्थात हमारी सांस्कृतिक परंपराओं से कुछ हटा हुआ-सा दीख रहा है। सनातन धर्म के प्रति पूर्ण उदासीनता परिलक्षित हो रही है। अंग्रेजों द्वारा भारत वर्ष का सही इतिहास न बताना या गलत बताना भी दूरभि-संधि थी। उसका प्रभाव आज 2022 में भी गया नहीं है। टी.वी. या यू ट्यूब पर ये बातें सुनने और देखने में आ रही हैं। हमारे राजनीतिज्ञों का एक हिस्सा तो तुष्टीकरण की राजनीति के लिए मजबूर दीखता है। दूसरा हिस्सा भारत की सनातन संस्कृति को समर्पित है, किंतु उसके कार्यकर्त्ता भी सनातन धर्म, संस्कृति के मूल्यों और इतिहास की सही जानकारी नहीं रखते।

ऐसा लगता है कि विद्यालयों की व्यवस्था एवं पाठ्यक्रम के पूर्णतः नवीनीकरण की आवश्यकता है, जिसमें हमारे सांस्कृतिक मूल्यों व इतिहास के सही तथ्यों एवं संबंधित विशेष बिन्दुओं को अच्छी तरह समझाया जाये। शिक्षकों की भूमिका तो इसमें महत्वपूर्ण है ही, परिवार में अभिभावकों का भी बच्चों के विकास एवं उनके चरित्र निर्माण पर ध्यान देना जरूरी है तथा उनको मानवीय मूल्यों, परंपरा एवं इतिहास का ज्ञान देते रह कर संस्कारित करना चाहिए। विकसित समाज अपने इतिहास के महान व्यक्तियों का सम्मान करता है और अपना गौरवपूर्ण इतिहास भी बच्चों को बताता है ताकि इससे उनकी आस्था और आत्म-विश्वास दृढ़ होता रहे और वे जीवन में आगे बढ़ने के लिए एवं अच्छे कार्य करने के लिए प्रेरित होते रहें।

ऐसा भी लगता है कि हम अपने पुरखों को भूल से गये हैं। उनके दिखाए मार्ग के प्रति हमारे अभिजात्य वर्ग की उदासीनता तो विशेष रूप से अखरनेवाली है जो उनके ऊपर हमारी आस्था को तोड़ने वाली अंग्रेजों की अवधारणा व शब्दावली से प्रभावित है। लार्ड मैकाले तो हमारी आस्थाओं को तोड़ना चाहता था, लेकिन इण्डोलॉजी के हमारे विद्वानों ने भी अंग्रेज विद्वानों का अनुसरण कर अंदर ही अंदर गहरा आघात किया। हमारे पुराणों, वेदों और ऐतिहासिक ग्रंथों को Mythology कहना शुरू कर दिया गया। मिथ धातु से मिथ्या शब्द बनता है। लैटिन में लॉगो से लॉजिक बना अर्थात ज्ञान। क्या हमारे पुराण ज्ञान देने वाले हैं या हमारे पुराण और शास्त्र मिथ्या ज्ञान देने के लिए लिखे गये हैं? स्वतंत्रता के 75 वर्षों के बाद भी हम इस आघात से उबर नहीं पाये हैं। हालांकि अब कुछ-कुछ उबरना शुरू हुए लगते हैं, क्योंकि हमारे कुछ युवा

लेखक ऐसे आ रहे हैं जो उक्त दूरभि-संधि को तोड़ने में अच्छा कार्य कर रहे हैं। कुछ उदाहरण दूंगा कि हमारे विद्यार्थियों को कश्मीर के शारदा विश्वविद्यालय या सम्राट ललितादित्य के साम्राज्य का ज्ञान नहीं है। इसी तरह हल्दीघाटी युद्ध में महाराणा प्रताप द्वारा अकबर की विशाल सेना से अपने मुट्ठीभर साथियों सहित वीरतापूर्वक सामना करना और उसे खाली हाथ लौटने पर मजबूर करना, मुसलमान आक्रांताओं का हमारे राजाओं द्वारा प्रतिरोध एवं उनसे प्रतिशोध लेना, राजा मार्तण्ड वर्मा के हाथों प्रतिपक्षियों की पराजय इत्यादि। इधर संस्कृत के व्याकरण की विशेषता, रामायण व वेदों का काल, राम-रावण युद्ध के समय का निर्णय वैदिक ज्योतिष द्वारा तथा विशिष्ट ज्योतिषी वराहमिहिर के विचार आदि यू-ट्यूब पर आजकल बहुत सुनता हूं। रामायण काल में जम्बूद्वीप व भारतवर्ष का भूगोल, पांडवों की विजय यात्रा आदि इन सबसे संबंधित तथ्यों की शोध की चर्चा भी आजकल बहुत होती है। ऐसे अन्य बहुत से विषय हैं, जो कि आज के हमारे नवयुवक शोधार्थी उठा रहे हैं और चेष्टा कर रहे हैं। नए शोधार्थियों से आशा है कि वे भारतीय संस्कृति, इतिहास, विरासत से संबंधित नवीन तथ्यों को प्रकाशित करेंगे इससे देश की, समाज की बहुत बड़ी सेवा होगी। आजादी का यह अमृत महोत्सव तभी उपलब्धिपूर्ण होगा जब अभिभावकों व बच्चों को अपनी संस्कृति का वास्तविक ज्ञान होगा।

– डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

अनसुनी बुराई

एक बार स्वामी विवेकानंद रेल से कही जा रहे थे। वह जिस डिब्बे में सफर कर रहे थे, उसी डिब्बे में कुछ अंग्रेज यात्री भी थे। उन अंग्रेजों को साधुओं से बहुत चिढ़ थी। वे साधुओं की भरपेट निंदा कर रहे थे। साथ वाले साधु यात्री को भी गाली दे रहे थे। उनकी सोच थी कि चूँकि साधू अंग्रेजी नहीं जानते, इसलिए उन अंग्रेजों की बातों को नहीं समझ रहे होंगे। इसलिए उन अंग्रेजों ने आपसी बातचीत में साधुओं को कई बार भला-बुरा कहा। हालांकि उन दिनों की हकीकत भी थी कि अंग्रेजी जानने वाले साधु होते भी नहीं थे। रास्ते में एक बड़ा स्टेशन आया। उस स्टेशन पर विवेकानंद के स्वागत में हजारों लोग उपस्थित थे, जिनमें विद्वान् एवं अधिकारी भी थे। यहाँ उपस्थित लोगों को सम्बोधित करने के बाद अंग्रेजी में पूछे गए प्रश्नों के उत्तर स्वामीजी अंग्रेजी में ही दे रहे थे। इतनी अच्छी अंग्रेजी बोलते देखकर उन अंग्रेज यात्रियों को सांप सूंघ गया, जो रेल में उनकी बुराई कर रहे थे। अवसर मिलने पर वे विवेकानंद के पास आये और उनसे नम्रतापूर्वक पूछा- आपने हम लोगों की बात सुनी। आपने बुरा माना होगा?

स्वामीजी ने सहज शालीनता से कहा- मेरा मस्तिष्क अपने ही कार्यों में इतना अधिक व्यस्त था कि आप लोगों की बात सुनी भी पर उन पर ध्यान देने और उनका बुरा मानने का अवसर ही नहीं मिला। स्वामीजी की यह जवाब सुनकर अंग्रेजो का सिर शर्म से झुक गया और उन्होंने चरणों में झुककर उनकी शिष्यता स्वीकार कर ली।

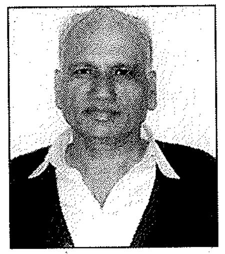

सम्पादकीय

76वें स्वतंत्रता दिवस और स्वतंत्रता के 75 वर्ष होने पर सोल्लास वंदेमातरम्, जय हिंद, हार्दिक बधाई तथा उन देश भक्तों का कृतज्ञ स्मरण, उनको शत-शत नमन जिनके त्याग और बलिदान के कारण आज हम आजादी का यह अमृतोत्सव मना रहे हैं। सचमुच इस बार 15 अगस्त 2022 का दिन अत्यधिक उल्लासपूर्ण हो उठा। इससे पहले तक राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली एवं राज्यों व केंद्र शासित प्रदेशों की राजधानियों, सरकारी कार्यालयों, स्कूलों व सरकारी एवं कुछ निजी संस्थाओं द्वारा झंडारोहण कर मनाया जाता रहा, अथवा मैंने कोलकाता में देखा कि सड़कों के किनारे व चौराहों पर जगह-जगह झंडारोहण किया गया है और बड़ाबाजार में, कुछ विस्मयपूर्ण रोमांच के साथ देखा कि पूरा बाजार बंद है और जगह-जगह झंडारोहण किया गया है (ऐसा इससे पहले मैंने किसी अन्य शहर में नहीं देखा)। ज्यादातर 15 अगस्त का मतलब सरकारी छुट्टी जो व्यावसायिक प्रतिष्ठानों को भी करनी पड़ती है। कुल मिलाकर यह उस तरह उत्सव नहीं होता था जैसा त्यौहारों की तरह। माननीय प्रधानमंत्री मोदीजी ने आजादी के 75 वर्ष होने पर अमृतोत्सव घोषित किया और यह पहली बार लगा कि पूरा देश स्वतंत्रता दिवस मना रहा है। मेरी तरह जन-जन ने घरों पर तिरंगा फहराया, फूल बरसाये, जन मन गण, जय हिंद, वन्दे मातरम्, बधाइयां, तालियां और लड्डू वितरण। सड़कों व बाजारों में हर नुक्कड़ पर तिरंगा, वाहन-वाहन पर तिरंगा, दूकान-दूकान पर मकान-मकान पर तिरंगा, उल्लसित बच्चों के कंधों पर तिरंगे पट्ट और हाथों में तिरंगा। चारों ओर आजादी के उल्लास का अमृत, पहली बार आजादी के जश्न से जुड़े इतने आम लोग। यह उत्सव, उल्लास साल-दर-साल और व्यापक हो, आइये! स्वतंत्रता दिवस को राष्ट्रीय त्यौहार बना लें।

वैचारिकी के जुलाई सितम्बर 1997 के अंक में मैंने सम्पादकीय लिखा था- 'स्वतंत्रता की 50वीं वर्षगांठ से मुड़कर देखना'। अब भी मुझे एक बार पीछे मुड़कर देखना जरूरी लग रहा है, पीछे मुड़कर देखना सीख देता है (जो हम लेना चाहें तो) वर्तमान कि लिए भविष्य के लिए, विशेषकर आजादी के इस अमृतोत्सव में अमृत क्या है इसको जानने के लिए। हिमालय से कन्याकुमारी तक और तीन तरफ समुद्र से घिरे प्राकृतिक वैविध्य, छह ऋतुओं एवं जीवन के लिए सभी अनुकूलताओं से संपन्न हमारे इस भू-भाग में भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमियों, परिवेशों तथा स्वभाव के जनों को अपने में बसाये रखने की अद्‌भुत उदारता है। इस्वी पूर्व की 3-4 शताब्दियों से ही लें तो यूनानी, शक, हूण, कुषाण आदि कौन-कौन यहां आये और यहां के परिवेश में घुल मिल गये। परंतु 11वीं शताब्दी ई. से आने वाले मुसलमान अपनी धार्मिक कट्टरता के कारण इस देशीय परिवेश के अंग नहीं बने, बनें भाई! मुस्लिम शासन में गैर मुस्लिमों को प्रताड़ित किया गया और उनके धार्मिक स्थानों का भी ध्वंस किया। इस भू-भाग को सहस्राब्दियों से जम्बूद्वीप और इसके एक बड़े भाग को भरत-खण्ड कहा जाता था, लेकिन बाहर से आने वाले लोगों ने इसको सिन्धु

नदी के नाम पर इण्डिया और हिन्दुस्तान नाम दिये। तथापि यह भू-भाग कई राजनीतिक पहचानों अथवा देशों, राष्ट्रों का समूह बना रहा जो अपने क्षुद्र स्वार्थों तक ही सीमित रहते थे और परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते थे।

मुस्लिम शासन (1192-1857) के दौरान विभिन्न मुल्कों- रियासतों के नामों से बँटा हुआ और बाद में पश्चिमी देशों में इण्डिया कहे जाने वाले इस देश में कई यूरोपीयों देशों ने अपने व्यापारिक उद्देश्यों के लिए उपनिवेश स्थापित कर लिये जिससे इसमें आस्ट्रियन इण्डिया (1778-1785), स्वीडिश इण्डिया (1731-1813), डच इण्डिया (1605-1825), डेनिश इण्डिया (1620-1869), फ्रेंच इण्डिया (1668-1954), पूर्तगीज़ इण्डिया (1505-1961) और ब्रिटिश इण्डिया (1600-1947) नामों वाले कई इण्डिया हो गये। बहरहाल, 1857 ई. तक हम अंग्रेजों की एक व्यापारिक कम्पनी, ईस्ट इंड़िया कम्पनी के अधीन रहे, तत्पश्चात सिपाही विद्रोह के असफल होने के बाद हमें ब्रिटिश क्राउन की 'सम्मानजनक अधीनता' प्राप्त हुई और ब्रिटेन अथवा अंग्रेजों का लगभग पूरे भारत पर कब्जा हो गया जिसमें 17 प्रांतों वाला बहुत बड़ा भू-भाग ब्रिटिश इण्डिया कहा जाने लगा और शेष में बड़ी संख्या में रियासतें (प्रिन्सली स्टेट्स) ब्रिटिश सरकार से हुई संधियों के फलस्वरूप स्वायत्त राजनीतिक इकाइयों के रूप में रही। अन्य यूरोपीयों देशों की तरह ब्रिटेन अथवा इंगलैंड से भी अंग्रेज यहां व्यापार करने के लिए आये और मुगल बादशाहों से इजाजत लेकर यहां व्यापार करने लगे। कुछ समय यहां रहते ही उन्हें समझ आ गई कि यहां कई छोटे बड़े राज्य हैं और उनमें आपस में भयंकर फूट है तथा उनके लिए अपना राजनीतिक स्वार्थ महत्वपूर्ण है;जातीय गौरव अथवा राष्ट्रीयता जैसी कोई चीज़ यहां नहीं है। इसका फायदा उठाकर उन्होंने पूरे देश पर कब्जा कर लिया।

वैसे तो अंग्रेजों की रीति-नीति और व्यापारिक स्वार्थों के लिए क्रूरतापूर्ण व्यवहार और यहां का धन अपने देश इंगलैंड ले जाने का विरोध बहुत पहले से होने लगा था, लेकिन 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस के अहिंसक-प्रजातांत्रिक ढंग से संगठित विरोध और अलग-अलग हिंसक प्रतिरोध होने लगे थे। इस तरह इस स्वतंत्रता आंदोलन में पूरा देश अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ जिसमें यह पहली बार हुआ कि कुछ वर्गों की बजाय सामान्यजन भी सम्मिलित हुआ। सचमुच यह अद्भुत था कि बड़ी संख्या में लोग अंग्रेजों की अधीनता से मुक्त होने के लिए त्याग और बलिदान तथा भयंकर कष्ट सहने के लिए तत्पर हो उठे। पूरा देश एक होकर राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हो उठा, हजारों-हजारों लोग शहीद हुए। 2 सितम्बर 1946 को पं. नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार का गठन किया गया जिसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं को सदस्य बनाया गया। यद्यपि मुस्लिम लीग ने अपने कारनामों से सरकार का चलना मुश्किल कर दिया। 20 फरवरी 1947 को ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार की ओर से ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली ने इंगलैंड के हाउस ऑफ कॉमन्स में हिन्दुस्तान को आजाद करने की घोषण कर दी। इस घोषणा से देश में खुशी की लहर उठी परंतु मुस्लिम लीग के चीफ मो. अली जिन्ना ने घोषणा कर दी कि मुसलमान हिन्दुओं के साथ नहीं रहेंगे, अतः हमें अगल मुल्क चाहिये। उधर लंदन में लेबर पार्टी के नेता यह फिक्स करने में लग गये कि हिन्दुस्तान का बंटबारा हो और नफरत इतनी फैल जाये कि चारों ओर तबाही फैल जाये, ठीक यही हुआ। आजादी से ठीक पहले देश का बंटबारा होकर पाकिस्तान बना और पाकिस्तान में धर्मान्ध मुसलमानों ने व्यापक रूप से हिन्दुओं का कत्लेआम किया। पूरा देश दंगों की आग में जल उठा। 1947 में 14 अगस्त को पाकिस्तान नामक नये मुल्क को पहले आजाद घोषित किया गया और 15 अगस्त को हिन्दुस्तान आजाद हुआ। परंतु साथ ही एक कूटनीतिक दंश और छोड़ दिया गया कि देश की रियासतों अथवा प्रिंसली स्टेट्स को इस आजादी में सम्मिलित नहीं किया गया। त्रावणकोर, जोधपुर, भोपाल, हैदराबाद और जूनागढ़ रियासतों ने हिन्दुस्तान अथवा भारत संघ में शामिल रहने से मना कर दिया। अंततः सरदार बल्लभ भाई पटेल के अथक प्रयासों से ये 565 रियासतें हिन्दुस्तान में सम्मिलित हुई। 1961 में गोवा को पुर्तगीज शासन से मुक्त कराकर भारत में सम्मिलित किया गया। जम्मू कश्मीर भी आधा-अधूरा शामिल हुआ था जो अब 2019 में पूरी तरह शामिल किया गया।

अंग्रेज राज सुख-साज सजे सब भारी, पै धन विदेश चलि जात यह अति ख्वारी।

हिन्दी साहित्यतेतिहास के आधुनिककाल के पुरोधा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की उक्त पंक्तियों से अंग्रेजों की अधीनता

के समय को देखने की, तत्कालीन प्रबुद्धजनों की दृष्टि ज्ञात होती है। हमारे राजाओं- महाराजाओं, बादशाहों - नवाबों के सामंती शासन में प्रजा का क्रूर शोषण, सामंतों की विलासतापूर्ण स्वार्थपरता और उनके पारस्परिक युद्धों के सिवा कुछ नहीं था, उनके यहाँ प्रजा के हित या कल्याण के लिए कार्य करने का विधान ही नहीं था। यह सही है कि अंग्रेजों के राज में लघु एवं कुटीर उद्योग नष्ट हुए और अंग्रेजों ने अपना व्यापार बढ़ाने के लिए वह सब कुछ किया जिससे कहा जाता है कि इनसे पहले यह देश सोने की चिड़िया थी। भारतेन्दु अपनी उक्त पंक्तियों में जिस ख्वारी का उल्लेख कर रहे हैं वह यह थी कि अंग्रेज अपने व्यापार और अन्य तरीकों से देश का धन अपने देश इंगलैंड ले जा रहे थे। बताया जाता है कि 1765 से 1938 के बीच अंग्रेज भारत की 45 ट्रिलियन डालर की संपत्ति अपने देश ले गये। अन्यत्र एक जगह पढ़ा कि लगभग 200 वर्ष में अंग्रेज भारत की 36 लाख करोड़ की संपत्ति अपने देश ले गये। चार साल पहले अर्थशास्त्री श्री पटनायक का एक अध्ययन कोलंबिया यूनिवर्सिटी से प्रकाशित हुआ जिसके अनुसार अंग्रेज सत्ता हथियाकर टैक्स से इकट्ठे धन के एक तिहाई हिस्से से भारतीयों से माल खरीदते और विलायत में महंगे दामों में बेचते थे और यहां से कच्चा माल ले जाकर अपने यहां पक्का माल बनवाते और उसे भारत और अन्य देशों में बेचते थे।

अब भारतेन्दु जिसे **सुख साज सजे सब भारी** कह रहे हैं, उसके अनुसार देखें तो अंग्रेजों के राज में रेल, ट्राम, जल-जहाज, हवाई-जहाज आदि परिवहन के साधनों तथा पोस्ट ऑफिस डाक, तार विभाग आदि संचार साधनों का विकास अपने आप में उल्लेखनीय है। हमारे यहां आधुनिकता का प्रवेश अंग्रेजों एवं अंग्रेजी से हुआ जिससे हम विश्व की जानकारी से जुड़े और यहां भी शिक्षा का आधुनिक ढांचा विकसित हुआ। भारतीय इतिहास, पुरातत्व, साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन से संबंधित यूरोपीय विद्वानों द्वारा किये गये शोधपूर्ण कार्यों से विश्व हमको जानने लगा और स्वयं हम भी तथा हममें भी यह प्रवृत्ति बनी। अंग्रेजों द्वारा किये गये उत्खनन कार्य, एशियाटिक सोसाइटी व इंडियन म्यूजियम एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना उल्लेखनीय कार्य कहे जायेंगे। अंग्रेज चाहे हमारे यहां राजतंत्र की तरह कार्य कर रहे थे परंतु वे स्वयं एक प्रजातांत्रिक देश से थे और प्रजातंत्र के संबंध में उन्हीं से हमें जानकारी प्राप्त हुई। इसी से स्वतंत्रता आंदोलन प्रजातांत्रिक तरीकों से संभव हो सका। कल्पना करें कि क्या इससे पूर्व क्रूर धर्मांध मुस्लिम शासन में और सामंतों के शासन में क्या यह संभव होता? अंग्रेजों के शासनकाल में ही भारत ने एकजूट देश का रूप धारण करना प्रारंभ किया। अंग्रेजों के शासन-काल में उनके संसर्ग से कितने ही वैचारिक, साहित्यिक एवं कला आन्दोलनों से हमारा परिचय हुआ, समाज सुधार के प्रवर्तन हुए, स्त्री-शिक्षा का प्रसार हुआ, स्त्री-दलित विमर्श प्रारम्भ हुए और ऐसे आह्वान होने लगे **'हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे। आओ विचारें आज मिलकर, ये समस्याएं सभी'** (मैथिलीशरण गुप्त) तथा यह हुआ कि शताब्दियों बाद इस युग में ही सर्वाधिक महापुरुषों का आविर्भाव हुआ।

हम आजादी का उत्सव खूब उत्साह-उल्लास से जरूर मनायें परंतु याद रखें और अपने से अगली पीढ़ी को भी बतायें कि :- ◆ जिस तरह समुद्र मंथन में अमृत से पहले हलाहल विष निकला उसी तरह आजादी के अमृत से पहले बंटबारे और निरपराध लोगों की हत्या का हलाहल विष पहले निकला। असुरों से अमृत की रक्षा रखनी है।

◆ अंग्रेजों की अधीनता से प्राप्त स्वतंत्रता का अमृत था प्रजातंत्र और हमने पहली बार जाना तलवार एवं कुछ ताकतवर लोगों द्वारा नहीं अपितु आम आदमियों के द्वारा भी सत्ता का निर्माण हो सकता है। ◆ यह स्वतंत्रता ज्ञात-अज्ञात हजारों-हजारों देशभक्तों के त्याग और बलिदान के कारण मिली है। ◆ हम अपनी पारस्परिक फूट और एक राष्ट्रीयता के अभाव में सदियों तक गुलाम रहे। ◆ हमारी सहिष्णुता, उदारता और कथित विविधिता का फायदा उठाया गया और उठाया जा रहा है। अतः चाहे हम अपनी विविधता को प्यार करें लेकिन सबसे पहले राष्ट्र। आइये, आजादी के इस अमृतोत्सव में संकल्प लें अपनी राष्ट्रीय एकता को कायम रखने के लिए, प्रजातंत्र को कुलीनतंत्र बनने से रोकने के लिए प्रतिबद्ध रहने का, भ्रष्टाचार और क्षुद्र स्वार्थों तथा सामाजिक भेदभाव से इस अमृत की रक्षा का।

–डॉ. बाबूलाल शर्मा

भारत पर आर्य-आक्रमण : एक विमर्श

प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र

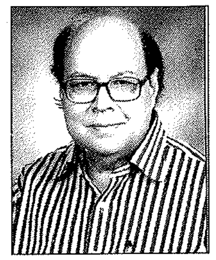

विश्वसंस्कृतियों में एक भी ऐसी नहीं जिसकी तिथियाँ सामान्य पाठक को चौंकाती न हों। मिस्र, असीरिया, बेबिलोनिया, हित्ती, मितानी, केल्डिया तथा सुमेरिया- ये सभी संस्कृतियाँ ई.पू. छठीं सहस्राब्दी से ई. सन् के प्रारंभ तक व्याप्त रही हैं। तथापि यह आश्चर्य का विषय है कि ई. पू. पाँचवी शती में विद्यमान यूनानी इतिहासकार, 'इतिहास का पिता' (Father of History) कहे जाने वाले हेरेडोटस् को सुमेर-संस्कृति का ज्ञान नहीं था। यहूदी बाइबिल से असीरियन तथा कैल्डियन इतिहास पर तो प्रभूत प्रकाश पड़ता है परंतु प्राचीन बेबिलोन एवं सुमेर इतिहास पर नहीं।

हेरेडोटस् ने यूनान एवं फारस के संघर्ष का इतिहास लिखने के लिये, जब ई. पू. पाँचवी शती में मिस्र तथा बेबिलोन आदि की यात्रा की तब भी उसने किसी से 'सुमेर' शब्द नहीं सुना। फलतः मिस्र, बेबिलोन, असीरिया, फिनीशिया, पैलेस्टाइन, एलम तथा मीडिया के बारे में मुखर होते हुए भी उसका इतिहास सुमेर के विषय में मौन है। दूसरा यूनानी इतिहासकार **टीसियस**, जो सत्रह वर्ष (415-398 ई. पू.) तक हकामनी सम्राट् अर्तजक्मीज़ का राजवैद्य रहा, भी हकामनी शासनावधि के पूर्वकाल के विषय में कुछ नहीं बता पाता। ई. पू. 280 में, एण्डियोकस् सीटर का समवयस्क **वैरोसॉस** (जन्म 330 ई.पू.) एक कैल्डियन विद्वान् था। वह बेबिलोन नगर के मर्दुक मंदिर में पुजारी था। उसने **बेबिलोनिया का इतिहास** लिखा। वह एक महान भविष्यवक्ता भी था। **प्लिनी** के प्रामाण्यानुसार, बैरोसास की भविष्यवाणियों से प्रभावित उसके भक्तों ने एथेंस में उसकी मूर्तियाँ तक स्थापित कर ली थी। उसका कालजयी इतिहास अब नष्ट है, उसके कुछेक उद्धरण मात्र फ्लेवियस (जन्म 33 ई.) सेंटक्लीमेंट (मृत्यु 227 ई.) तथा बिशप यूसीबियस के ग्रंथों में मिलते हैं। परंतु अपने ग्रंथ में बैरोसॉस ने मर्दुक द्वारा **तिमायत** के वध तथा सृष्टिरचना से लेकर अपने जीवनकाल तक का इतिहास लिखा था (जैसे नीलमतपुराण में युधिष्ठिर के शासनकाल से लेकर कर्कोटकवंश के उदय तक का ऐतिह्य अंकित था, यह पुराण भी अब अनुपलब्ध है)।

वैरोसॉस ने अपने इतिहास में बेबिलोनिया के इतिहास को द्विधा विभक्त कर लिखा था- 1. प्रलय के पूर्व का युग, जिसमें दस राजाओं ने चार लाख तीन हजार वर्ष शासन किया। 2. प्रलय के बाद का युग, जिसमें आठ वंशों के राजाओं ने 36 हजार वर्ष शासन किया। ये तिथियाँ सर्वथा अविश्वसनीय प्रतीत होती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह कि मात्र सुमेरियन-संस्कृति में वर्णित 'प्रलय' से परिचित होते हुए भी बैरोसॉस सुमेर-संस्कृति का उल्लेख भी नहीं करता। आखिर क्यों? यह समझना कठिन है।

सुमेर-संस्कृति में वर्णित महाप्रलय की घटना मत्स्य-पुराण तथा ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होती है। दोनों ही संदर्भों में तिल-तिल साम्य हैं। परंतु भारतीय संस्कृति एवं साहित्य की प्राचीनता, उत्कृष्टता तथा चिरन्तनता का समर्थक कोई भी विवेकी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि प्रलय का यह वर्णन सुमेर-साहित्य से ऐतरेय-ब्राह्मण में आया है। सच यही है कि वैदिक साहित्य से ही यह प्रलय-कथानक सुमेर-साहित्य में गया।[1]

उपर्युक्त अवधारण इसलिये भी सच है कि **हाल** महोदय ने सुमेरियनों को भारतीय द्रविड़ ही माना है जो समुद्री मार्ग से, फारस की खाड़ी पार करते सुमेर तक पहुंचे थे। ऐसी स्थिति में, वैदिक प्रलय वर्णन का सुमेर तक जाना सहज प्रतीत होता है। बैरासॉस के अतिरिक्त कुछ कीलाक्षर अभिलेखों से भी इस प्रलय (महाजलप्लावन) की पुष्टि होती है। यह प्रलय सुमेर के अधिपति जुसुद अथवा ज्युसुद (वैटासॉस का एस्सीसुओस) के शासनकाल में हुआ था।

सुमेरियन आख्यान के अनुसार स्वर्ग में केवल देवता ही रहते थे। परंतु कालांतर में, मर्त्यकोटिक होते हुए भी, एकमात्र ज्युसुद को स्वर्ग में रहने का अधिकार प्राप्त हो गया। देवता इस तथ्य को जान नाराज हो उठे और उन्होंने महाप्रलय द्वारा मर्त्यलोक का ही विध्वंस करने की ठान ली।[2] परंतु **एनकी** ने यह रहस्य समय रहते ही ज्युसुद को बता दिया- 'शर्रुपाक के मानव! उबर्दुदु के पुत्र! घर को गिरा डाल, एक नौका बना, माल-असबाब छोड़ दे, जान की फिक्र कर, संपत्ति को लात मार और जीवन की रक्षा कर, सारे जीवों के बीज चुन ले और नौका के बीच ला रख।' ज्यूसुद ने एनकी के आदेशानुसार एक नौका बनाई और उसे अनेक जीवों के जोड़ों तथा अन्नादि से भर दिया। अपने परिवार को भी उसने उसी पर चढ़ा लिया। फिर भयानक तूफान आया और काले विकराल मेघ घोर वर्षा करने लगे- 'भाई-भाई को नहीं पहचान पाता था। शून्य और आदमी में कोई अंतर नहीं था (आदमी दीखते ही नहीं थे)। तब स्वयं देवताओं को भी जल प्रलय से भय होने लगा। देवता कुत्तों की तरह कॉप रहे थे भय से- देवी इनन्ना प्रसव पीड़िता नारी की तरह चीख उठी।' जल प्रलय सात दिन तक चलता रहा। अन्ततः देवताओं का क्रोध शांत हुआ। ज्यूसुद ने उन्हें बलि प्रदान की तो वे प्रसन्न हो उठे। देवताओं ने ज्यूसुद को अमृतत्व प्रदान किया और **दिलमुठा** पर्वत पर जहाँ सूर्य उदित होता है, उसे स्थान दिया।

यही कथानक यहूदियों की बाइबिल, शतपथ ब्राह्मण, मनुस्मृति, ऐतरेय ब्राह्मण तथा मनुस्मृति में भी विर्णत है। बाइबिल में जलप्लावन से विश्व की रक्षा हजरत नूह करते हैं। परंतु संस्कृत ग्रंथों में मनु की रक्षा मत्स्यावतार विष्णु करते हैं तथा फिर मनु से ही मानव की सृष्टि प्रारंभ होती है।[3]

परंतु तुलनात्कम दृष्टि से अध्ययन करने पर भारतीयेतर महाप्रलय-कथाओं का फूहड़पन सिद्ध हो जाता है। जबकि इडोपाख्यान में आया मत्स्यवृत्तांत अत्यंत संवेदनात्मक है। मनु हाथ की अंजली में अकस्मात आये मत्स्य का पालन क्रमशः घट, भृंगार, द्रोणी आदि में करते थक जाते हैं क्योंकि अगले ही दिन मत्स्य का आकार बढ़ जाता है। वे आश्चर्य, विस्मय तथा असमर्थता में डूबे ही हैं कि मत्स्य मानववाणी में बताता है कि आज के सातवें दिन महाप्रलय आयेगी, सारी सृष्टि जलमग्न हो जायेगी, तब मैं तुम्हारी रक्षा करूंगी। तुम अपनी नाव मेरे सींग से बाँध देना, मैं तुम्हें सुरक्षित स्थान तक ले चलूँगा आदि।

सुमेर-संस्कृति का यह वर्णन ई.पू. 3200 वर्ष का है, जब बेबिलोन-साम्राज्य का उदय नहीं हुआ था। परंतु ऐतरेय ब्राह्मण की तिथि उससे भी अधिक प्राचीन है। तिलक महोदय तो अदितियुग (मैत्रायणी संहिता का रचनाकाल) ईसा से प्रायः 6500 वर्ष पूर्व मानते हैं। प्रो. हाल का मत हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं जो सुमेरियन लोगों को स्पष्टतः भारतीय द्रविड मानते हैं। ये नाटे कद के, मुंडितशिरस्क तथा प्रायः श्मश्रुविहीन ही रहते थे। प्रो. **राजबली पाण्डेय** तथा प्रो. **ए. एल. बाशम** ने भी सुमेर, असीरिया आदि में बसने वालों को भारतीय ही माना है जो पश्चिमोत्तर सीमाओं को पारकर मेसोपोटामिया तक जा पहुंचे, तथा वहाँ अपना साम्राज्य स्थापित कर सके। मूलतः वे सब भारतीय ही थे। ये आकाश, जल, वायु तथा पृथ्वी आदि देवों के उपासक थे।

पश्चिमी सेमाइटों के आक्रमण से सुमेर के एलम

तथा अक्काद नगर ध्वस्त हो गये तथा बेबिलोन में एक स्वतंत्र राजवंश स्थापित हुआ 2225 ई. पू. में। इसका संस्थापक सुमु अदुम था। उसके पश्चात् क्रमशः **सुमुल इसु, अदुम, इमेरूम, अपिलसिन तथा सिन मुबारिसत** ने राज्य किया। मुबारिसत का पुत्र **हम्मूरबी (2123-2080 ई. पू.)** इस वंश का सर्वाभौम सम्राट हुआ। यह वंश शम्सुदिताना के राज्काल (1956-1925 ई. पू.) तक चला तथा अन्ततः एशिया माइनर (तुर्की) के हित्तियों द्वारा नष्ट कर दिया गया। हम्मूरबी की ख्याति का कारण है उसकी विधिसंहिता जो दुंगी की संहिता को हर माने में अतिक्रांत करती थी। इसमें 285 धाराएं हैं जो व्यक्तिगत सम्पत्ति, व्यापार वाणिज्य, परिवार, अपराध तथा धर्मादि अध्यायों में विभक्त हैं। इसे सम्राट ने आठ फुट ऊंचे पाषाण स्तम्भ पर 3600 पंक्तियों में उत्कीर्ण कराया था और इसे बेबिलोन नगर के नगर देवता मर्दुक के मंदिर (ए-सागिल) में स्थापित किया गया था। बाद में इसे एलम के शासक सूसा उठा ले गए, जहाँ से फ्रेंच विद्वान द मार्को ने इसका उद्धार किया। हम्मूरबी की विधिसंहिता सुमेर-सम्राट दुंगी की संहिता, जावी सम्राट हयमवरुक (राजसनठार 1478 ई.) की संहिता प्रचंच प्रणीत नागरकृतागम के साथ ही साथ भारतीय मनुस्मृति का स्मरण कराती है। इस पर भारतीय-प्रभाव को कथमपि नकारा नहीं जा सकता।

कृपया **विद्वतजन मेरे तर्कों तथा स्थापनाओं पर ध्यान दें।** इस विधिसंहिता की प्रारंभिक पक्तियों में मंगलाचरण है, परंतु सर्वाधिक चौंकाने वाला संहिता का शीर्षांकित चित्र है जिसमें सूर्य देवता द्वारा, यह संहिता हम्मूरबी को अर्पित करते दर्शाया गया है, क्या यह दृश्य शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन (वाजसनेयी) संहिता का अविकल अनुकरण नहीं, जिसमें सूर्य देवता शुक्लयजुर्वेद-संहिता महर्षि याज्ञवल्क्य को अर्पित करते हैं? भारतीय ग्रंथों की देवमूलकता निश्चय ही बेबिलोन-पंडितों को ज्ञात रही होगी अतः उन्होंने विधिसंहिता को श्रद्धेय बनाने के उद्देश्य से ही उसे सूर्य देवता से जोड़ा। इस प्रकार, सुमेर-साम्राज्य की ही तरह बेबिलोन के भी धर्म-दर्शन पर भारत ही प्रभावी था। यद्यपि ई. पू. 2000 में विद्यमान **गिल्गामेश** नामक कहाकाव्य, जिसके 12 खण्ड हैं, सुमेर तथा बेबिलोन दोनों के ही देवशास्त्र की समन्वित संहिता है। इसमें वर्णित देव-देवी भारत से प्रायः भिन्न ही हैं तथापि अथर्ववेद के **तैमात** को बेबिलोन में **तियामत** के रूप में प्राप्त कर हमें आश्चर्य अवश्य होता है।

सुमेर तथा बेबिलोन की तुलना में असीरिया तथा हित्ती-मितानी देवशास्त्र सर्वथा भारत के अनुरूप रहे हैं। इसका एकमात्र कारण विद्वानों की यह मान्यता है कि सेमाइट्स की तुलना में कसाइट्स तथा हित्ती-मितानी जन इण्डो-ईरैनियन वंश परिवार के जन थे।

असीरियनों का अभ्युदय ई. पू. 23वीं शती में हुआ, बेबिलोन राजवंश के कमजोर पड़ने पर। इस समय मिस्र में 19वाँ राजवंश सत्ता में था। बेबिलोन की अशक्ति का लाभ उठाकर असीरिया का शासक असुरदान (1183-1140 ई. पू.) स्वतंत्र हो गया। असुरों का अग्रिम इतिहास यहूदियो की बाइबिल तथा डियोडोरस (ई.पू. प्रथम शती) के इतिहास में मिलता है। इस वंश के चक्रवर्ती **सम्राट असुरवेनीपाल** (669-626 ई.पू.) ने **लिम्मूसूची** बनवाई थी, जिससे असीरिया के इतिहास का क्रमबद्ध ज्ञान होता है। प्रतिवर्ष राजधानी में, वर्ष के प्रथम दिन, प्रधान देवता का अभिनय करने के लिये, राजपरिवार के किसी व्यक्ति का चयन होता था और वह वर्ष भर उसी के नाम से संबोधित किया जाता था। हाल ही में असुर नगर के उत्खनन में एक नई लिम्मू सूची मिली जिससे असीरिया का 2300 ई.पू. तक का इतिहास पकड़ में आ जाता है।

तिगलयपिलेसर प्रथम (1190-1100 ई.पू.) ने 'सुमेर एवं अक्काद का स्वामी 'विरुद धारण किया, राजधानी वल्ली से असुर में स्थानान्तरित की तथा अनेक मन्दिर बनवाये। वह अत्यंत कुशल आरवेटक था। उसने 220 शेर पैदल तथा 800 रथ पर बैठकर मारे थे। **असुरनसिरपाल द्वितीय** (884-859 ई.पू.) इलमनेरसर तृतीय (859-824 ई. पू.), तिगलमपिलेसर तृतीय (745-728 ई.पू.), श्लमनेसर पंचम (727-722 ई.पू.), **सारगोन** (722-705 ई. पू.) आदि असीरिया की शासन परंपरा में आगे आए। असुरों के देवी-देवता, हित्तियों तथा मितानियों के ही समान, वैदिक-परंपरा के थे। वे सूर्यस्, मरुत्तस् आदि की उपासना करते थे। असुर उबालित (1379-1340 ई.पू.) ने असीरिया को मिस्री आधिपत्य से मुक्ति दिलाई। श्लमनेसर प्रथम (1295-1250 ई.पू.) प्रथम व्यक्ति था जिसने दजला तथा फरात की अंतर्वेदी में असुर-साम्राज्य का विस्तार किया उसका पुत्र तुकुल्ती निनुर्त (1250-1241 ई.) पिता से भी अधिक प्रतापी सिद्ध हुआ। उसने 1248 ई.पू. बेलीलोन को जीता तथा 'सुमेर एवं अक्काद का स्वामी' उपाधि धारण की। प्रायः सभी असीरियन शासक युद्धप्रिय थे। उनका प्रधान देवता असुर भी युद्ध का ही देवता था। प्रारंभ में वह मिस्री देवता ओसिदिस की तरह, उत्पन्न होकर मर जाने वाली वनस्पति का ही प्रतीक था, परंतु कालांतर में असीरियनों का राष्ट्रीय उद्यम युद्ध बन जाने पर, असुर भी युद्ध देवता बन गया।

सातवीं शती ई.पू. में निनेवेह नगर चक्रवर्ती असुरसम्राट **असुर बेनीपाल** (669-629 ई. पू.) की राजधानी थी। **श्लमनेसर** पंचम के बाद उसके योग्य सेनापति ने असुर साम्राज्य की बागडोर सँभाली। यहीं से **सारगोनी-वंश** का शासन प्रारंभ हुआ। **सारगोन** (721-705 ई.पू.) ने बेबिलोन, मिस्र तथा इजराइल को जीता तथा निनेवेह के पास सारगोनपुर नामक भव्य नगर बसाया। सारगोन के पुत्र **सेनाफेरीज** (705-681 ई.) ने बेबीलोन का पुनर्निर्माण कराया, परंतु कृतघ्न बेबिलोनियों के बार-बार विद्रोह करने के कारण 689 ई.पू. में बेबिलोन को पूर्णतः विध्वस्त भी कर दिया। सेनाफेरीज को अन्ततः उसके ही पुत्रों ने मार डाला 681 ई.पू. में। परंतु सबसे छोटे पुत्र असुर अरव-इदिन अथवा **एसरहद्दीन** (681-669 ई.पू.) ने पितृहन्ता भाइयों का वध कर साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। उसने पिता द्वारा विध्वस्त बेबिलोन का पुनर्निमार्ण कर बेबिलोनियनों की सहानुभूति प्राप्त की। असीरिया के विरुद्ध सीरिया तथा फिलिस्तीन को निरंतर उकसाने वाले मिस्र को उसने 671 ई.पू. में पूर्णतः पददलित कर डाला। परंतु इसी अभियान में उसकी मार्ग में ही, बीमारी से मृत्यु हो गई। एसरहद्दीन ने मृत्यु से पूर्व ही **असुरबनीपाल** को सम्राट तथा छोटे पुत्र शमशशुम-उकिन को बेबिलोन का गवर्नर घोषित कर दिया था। **असुरवेनीपाल** अपने युग का महान निर्माता, मंदिर-प्रासाद-दुर्ग निर्माता तथा विद्याप्रेमी नरेश था। उसके ग्रंथागार में प्रायः 30000 ऐतिहासिक एवं साहित्यिक अभिलेख थे जो आज भी सुरक्षित हैं। 625 ई.पू. में इस महान शास्ता की मृत्यु के साथ ही असीरियन राजसत्ता का भी शनैः शनैः अंत हो गया।

प्रायः **इन समस्त संस्कृतियों में वैदिक देवशास्त्र की दो विशेषताएँ अनिवार्यतः दृष्टिगोचर होती हैं-**

1. सर्वत्र पंचतत्त्वों (अकाश, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) की ही प्रतिष्ठा देवरूप में है। 2. प्रायः सारी संस्कृतियों के देव-देवी पुरुष एवं स्त्री रूप हैं। पुरुषविधता का यह सिद्धांत आचार्य यास्क द्वारा प्रतिष्ठापित है। यद्यपि बेबिलोन तथा असीरिया में देवाधिदेव के रूप में क्रमशः मर्दुक तथा असुर देवता की प्रतिष्ठा सर्वोपरि रही। मिस्र में **सूर्य (रे)** की तथा हित्ती-संस्कृति में **त्रिशूलधारी शिव** की प्रतिष्ठा रही। मितानी धर्म में **इन्द्र, वरुण, मित्र तथा नासत्य** की प्रधानता रही। सुमेर संस्कृति में वायु, जल तथा पृथ्वी से निर्मित विश्व के नियंत्रक रूप में अन (आकाश) तथा की (पृथ्वी) के गर्भ से सम्भूत एनलिल (वायुदेव) का प्रभुत्व रहा। इन्हीं से सूर्य, चन्द्रादि ग्रहों का जन्म हुआ।

मितानीधर्म यज्ञप्रधान था। ऐसे अनेक चित्रांकन प्राप्त हुए हैं जिनमें यज्ञकुण्ड में हविष्यान्न अर्पित करते यजमान को प्रदर्शित किया गया है। सुमेरियन, असीरियन, हित्ती, मितानी सभी **बहुदेववादी** हैं, भारत के ही समान। परंतु अन्ततः उनका अवसान एसकेश्वरवाद में हुआ दीखता है। मिस्र के धर्म में एमेन रे (सूर्य) को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उसके व्योमचारी बन जाने पर उसके पुत्र ओसिरिस ने पृथ्वी पर राज्य किया। उसकी पत्नी (तथा भगिनी) आइसिस थी जिससे होरस का जन्म हुआ। ओसिरिस आख्यान को ही पिरामिड-परंपरा का मूल माना जाता है।[4]

सुमेर बेबिलोन, असुर, हित्ती तथा मितानी धर्म एवं संस्कृति पर इतना संक्षिप्त किंतु 'प्रामाणिक' लिखने का मेरा एकमात्र उद्देश्य मात्र इतना है कि लोग पूर्वाग्रह एवं हठवादिता छोड़, भारतीय धर्म एवं संस्कृति के 'स्थानान्तरण' को स्वीकार कर सकें। हित्ती, मितानी तथा असुर संस्कृतियाँ जहाँ शत-प्रतिशत भारतीय सिद्ध होती हैं, वहीं सुमेर, बेबिलोन तथा मिस्र की संस्कृतियाँ उसका 'प्रतिबिम्ब' सिद्ध होती हैं। सत्य यही है कि महाभारत-काल की समवयस्क ये समस्त विश्वसंस्कृतियाँ प्रकृत्या भारतीय ही थीं।

कुछ लोग सोचते और कहते हैं कि आर्य एशिया माइनर (तुर्की) से भारत आए, आक्रान्ता बन कर! जबकि यह सिद्धांत प्रचारित करने वालों को ज्ञात है कि मितानी लोग इन्द्र, वरुण, मित्र एवं नासत्य के उपासक थे, जिसकी पुष्टि बोगाज़कोई के उत्खनन से भी हो चुकी है। परंतु एशिया माइनर ही क्यों? असीरियन भी तो इन्हीं देवों के उपासक थे। अमनहोतय चतुर्थ (14वीं शती ई.पू.) का एकेश्वरवाद (सूर्योपासना) भी तो ऋग्वेद के 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' का ही समर्थन करता है। सूर्य द्वारा सम्राट् हम्मूरबी को विधिसंहिता का समर्पण है। सूर्य द्वारा सम्राट् हम्मूरबी को विधिसंहिता का समर्पण भी तो भारतीय परंपरा ही है। **तो फिर, आर्य कहां-कहां से आक्रांता बनकर आये, इजिप्ट से? बेबिलोन से? एलिम, उर, कृश, कार्नाक, तेल अलअमर्णा तथा वल्ली से? केवल एशिया माइनर से आक्रांता बनकर आने का क्या तुक है? क्या औचित्य है? यह सारी खुराफात भारतविरोधी विदेशियों तथा उनके पिट्ठू भारतीयों की है।** सच यही है कि आर्य नाम की कोई जाति कभी नहीं रही (आर्य शब्द भारतीय सत्पुरुषों का विशेषण रही है।[5] द्रष्टव्यः असंशयं क्षभपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि में मन - कालिदास, अभि. शाकु. ई.पू. द्वितीय शती) भारत में रहने वाले लोग मात्र 'भारतीप्रजा' (भारतीय) हैं अनादिकाल से!

उत्तरंयत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चापि दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

तो फिर इस आर्याक्रमण-मिथक का सत्य क्या है, यह क्यों अस्तित्व में आया।

भारतविरोधी लार्ड भैकाले से प्रभावित फ्रैडरिक मैक्समूलर ने 1835 ई. में वेदों की रचनातिथि ईसा से मात्र 1200 वर्ष पूर्व घोषित कर दी तो संपूर्ण विश्व में भूचाल सा आ गया। एक इंगलैंड को छोड़ शायद ही यह घोषणा किसी प्राच्य भाषाविद् को पसंद आई हो। फादर जिभरमैन, प्रो. विण्टरनित्ज़ आदि सैकड़ों संस्कृतज्ञों को प्रो. मैक्समूलर की यह बचकानी हरकत अच्छी नहीं लगी। चारों ओर इस मत का घोर विरोध हुआ।

इन्हीं विरोधियों में, चेकोस्लावाकिया के प्राग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं उत्खनन-विभाग के प्रो. ह्यॉज्नी भी थे। उन्होंने 1895 ई. में तुर्कीस्तान के बोगाज़कोई टीले की खुदाई कराई जो कभी मितानी राजवंश की राजधानी रहा था। इस क्षेत्र में पल्लवित हित्ती तथा मितानी राजशक्तियां निरंतर संघर्षरत रहती थीं। 15वीं शती ई. पू. में मितानी नरेश दशरथ का प्रभुत्व शिखर पर था। असीरियन, हित्ती तथा मिस्र साम्राज्यों के बीच होने के कारण मितानियों को व्यापार बढ़ाने का अवसर मिला।

15वीं शती ई.पू. में मितानी नरेश **दशरथ** ने मिस्र सम्राट् अमनहोतप द्वितीय (1447-1421 ई.पू.) के साथ संधि की। उसके पुत्र अर्ततन की पुत्री मत्तउजा का विवाह, अमनहोतप द्वितीय के पुत्र षटमोष चतुर्थ (1431-1412 ई. पू.) के साथ संपन्न हुआ और प्रथम बार कोई विदेशी राजकुमारी मिस्र की महारानी बनी। षटमोष चतुर्थ के पुत्र अमनहोतप तृतीय (1412-1376 ई.) ने भी अर्ततन के पुत्र सुतर्न की पुत्री गिलुकिया के साथ विवाह किया। यद्यपि यह कन्या साधारण रानी ही रही। कुछ समय पश्चात अमनहोतप तृतीय ने सुतर्न के पुत्र दशरथ की पुत्री अर्थात गिलुकिया की भतीजी से भी विवाह किया। इस प्रकार, मिस्र का सम्राट मितानी नरेश दशरथ का जामाता था। दोनों के संबंध अत्यंत मैत्रीपूर्ण थे, दोनों में निरंतर पत्र व्यवहार होता रहता था। पिररवी नामक शत्रु पर विजय पाने के बाद दशरथ ने लूट के माल से एक रथ तथा अनेक अश्व अमनहोतप तृतीय तथा गिलुकिया के पास, उपहार-स्वरूप भेजे। अमनहोतप की मृत्यु पर भी उसने संवेदनाएं प्रकट कीं। अमनहोतप चतुर्थ के सिंहासनारोहण के अवसर पर भी उसने बधाई संदेश भेजा। अमनहोतप चतुर्थ (अखनतन-अखन् अतन् अर्थात् सूर्य का प्रकाश उपाधि धारण करने वाला) अत्यंत प्रतापी सम्राट सिद्ध हुआ। उसने पुजारियों के बहुदेववाद के विरुद्ध मिस्र में एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठापना की तथा सूर्योपासना का प्रवर्तन किया। कार्नाक में उसने विशाल सूर्य मंदिर बनवाया तथा अपनी विमाता तदुकिया (गिलुकिया की भतीजी) से विवाह किया। ऐसे विवाह न केवल मिस्र अपितु हित्ती-समाज में भी मान्य थे। परंतु दशरथ के साथ ही मितानी-साम्राज्य का अंत हो गया। असीरिया ने मितानी-प्रभुत्व का विरोध किया। असुर उबालित, मिस्र से मितानी की बराबरी मांगने लगा। तभी दशरथ को उसके पुत्रों ने मार डाला तथा उसके भाई अर्ततम ने शासन पर अधिकार कर लिया। इस अवसर का लाभ उठाकर हित्ती-सम्राट् सुब्बिलुलिउमस् ने अपनी पुत्री का विवाह दशरथ-पुत्र मत्ति-उजा के साथ कर दिया तथा दामाद के पक्ष से युद्ध कर, अर्ततम को पराजित कर, मितानी-साम्राज्य को पुनः स्थिरता प्रदान कर दी। इसी वैवाहिक अवसर पर कीलाक्षारों में एक संधि पत्र लिखा गया जिसमें इन्द्र, वरुण, मित्र तथा नासत्य-बन्धुओं का साक्ष्य दिया गया है। यह सिंधिपत्र प्रो. ह्याज्नी को अन्यान्य यज्ञसामग्रियों के साथ बोगाजकोई में मिला। इस विवाह के अनन्तर मितानी राज्य हित्ती-राज्य का करद सामंत मात्र रह गया।

प्रो. ह्याज्नी ने अपने उत्खनन (1895) की रिपोर्ट 1905 ई. में प्रकाशित की तथा विश्व को बताया कि वैदिक संस्कृति एवं धर्म की कट्टर अनुयायी हित्ती-मितानी संस्कृतियां 14वीं शती ई.पू. तक समाप्त हो चुकी थी और उनका समृद्धिकाल 3500 से 1400 ई. पू. तक रहा होगा। मितानी भाषा के सारे शब्द संस्कृतमूलक हैं। एक, द्वा, तेर, पंज, षट्, सत्र आदि संख्यायें भी संस्कृत ही हैं। ऐसी स्थिति में, एशिया माइनर से, 12वीं शती ई.पू. में आर्यों तथा वेदों की कल्पना करना पूर्णतः उपहासास्पद है। सच तो यह है कि वैदिक संस्कृति उस क्षेत्र में 3500-1400 ई. पूर्व के मध्य रही होगी।

इसलिये मितानी प्रमाण से आर्य-आक्रमण की परिकल्पना करने वाले लोग पूर्णतः उद्भ्रांत हैं। वस्तुतः सुमेर, बेबिलोन, असुर, हित्ती, मितानी तथा मिस्र इन सारे क्षेत्रों में भारतीय भारत से ही गये, वह भी महाभारतकाल में! जो गये, वे वहीं के होकर रह गये, सदा-सदा के लिये।वहीं उन्होंने साम्राज्य स्थापित किये, सदियों तक शासन भी करते रहे और अंततः शक्तिह्रास के कारण नष्ट भी हो गये।

संदर्भः

1. द्रष्टव्य हिरण्यगर्भ-सूक्त (ऋग्वेद 10-121) हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे स दाधार पृथिवीमुते द्याम्। भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम।। **2.** इस घटना का साम्य, त्रिशंकु के सशरीर स्वर्ग जाने तथा स्वर्गस्थ इन्द्रादि देवों द्वारा उन्हें पुनः पृथ्वी पर च्युत किये जाने से भी सिद्ध होता है। **3.** सविस्तर द्रष्टव्यः ऐतरेय ब्राह्मण का इडोपाख्यान। **4.** एमेनरे (सूर्य) के पुत्र (ओसीरिस) तथा पुत्री (आइसिस) का पति-पत्नी बन जाना ऋग्वेद के यम-यमी सूक्त की प्रतिच्छाया मात्र है। इस सूक्त में यमी यम को, अपने साथ विवाहार्थ प्रेरित करती है, परंतु यम उसका प्रस्ताव स्वीकार नहीं करता। ओसिरिस के मृतशरीर का पुनर्जीवित हो उठना तथा संतति प्रदान करना भी भारतीय-मिथकों से प्रभावित दीखता है। मिथिलानरेश निमि के मृतशरीर के मन्थन से ही जनक (सीरध्वज) की उत्पत्ति हुई थी। मन्थनकर्म के ही कारण उन्हें मैथिल तथा निर्जीव देह से पैदा होने के कारण विदेह कहा गया। वेन के मृतशरीर-मंथन से पृथु के जन्म लेने की घटना श्रीमद्भागवत में वर्णित है। वस्तुतः इसी मिथक के आधार पर मिस्र के फराह (देवदूत) सम्राटों ने मृत्योपरान्त अपनी ममी को पिरामिड (Burial Temple) में सुरक्षित रखवाना प्रारंभ किया कि इसी मृतशरीर से वे पुनर्जीवित हो जायेंगे। **5.** आर्य-संबोधन विषयक प्रमाण आचार्य भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र में भी उपलब्ध हैं। आर्य, आर्या, अंज्जुका (आजी, आजा- अवधी) ये सभी आदरसूचक शब्द हैं, जाति के सूचक कत्तई नहीं।

सन राइज विला
(सीनियर सैकेण्ड्री स्कूल के पास)
लोअर समर हिल
शिमला-171005
मो.-9418176968, 9418041537

समाज में बदलाव इसलिए नहीं आता
क्योंकि गरीबों में हिम्मत नहीं है
मध्यम को फुर्सत नहीं है
और अमीर को जरूरत नहीं है !

भारत पर आर्य आक्रमण का सिद्धांत : एक साजिश

केशव प्रसाद कायां

भारतीय इतिहास का आधार आज भी आर्यों के भारत पर आक्रमण के सिद्धांत के आधार पर प्रचारित है। 18वीं तथा 19वीं शताब्दी में अंग्रेज भाषा-शास्त्रियों तथा पुरातत्त्वविदों ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि भारत के मूल निवासी द्रविड़ बड़े शांतिप्रिय, सुशील एवं कृष्णवर्ण के थे जिन्होंने हड़प्पा अथवा सिंधु सभ्यता की स्थापना की। यह अनुमान किया गया कि वे बड़े उत्कृष्ट स्थापत्य कर्मी थे जिसका प्रमाण है सिंध प्रांत में हुए उत्खनन में प्राप्त मोहनजोदड़ों शहर है जो 1947 में हुए भारत विभाजन के बाद पाकिस्तान में है और इसके निवासियों के पास कोई उल्लेखनीय संस्कृति तथा साहित्य नहीं था न ही कोई उपयुक्त लिपि थी। ऐसा कहा गया कि ईसा के 1500 वर्ष पूर्व पश्चिमी रूस के किसी भू-भाग से श्वेतवर्ण के यायावर आर्यों ने भारत पर आक्रमण करके यहां के मूल निवासी द्रविड़ों को पराजित करके उन पर घृणित जाति प्रथा का आरोपण किया। आर्यों को ही संस्कृत भाषा का, वैदिक अथवा हिन्दू धर्म का, सर्व प्राचीन ग्रंथ वेद तथा परवर्तीकाल में लिखे गये उपनिषद, महाभारत, रामायण आदि ग्रंथों का श्रेय प्रदान किया गया।

वस्तुतः 'आर्यों के आक्रमण का सिद्धांत' कुछ अंग्रेज विद्वानों की सोची समझी कुटिल चाल थी, जिसके द्वारा एक ओर तो उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि भारतीय सभ्यता सर्वाधिक प्राचीन सभ्यता नहीं है, यह उन संस्कृतियों से परवर्ती है, जिन्होंने पाश्चात्य जगत् की मेसोपोटेमिया, सुमेरिया तथा बेबिलोन सभ्यताओं को प्रभावित किया है तथा दूसरी ओर भारत की जो कुछ भी अच्छाइयां दिखलाई देती हैं, चाहे वह संस्कृत भाषा का विकास हो, चाहे साहित्य या स्थापत्य कला हो, ये सभी पश्चिम से प्रभावित हैं और पश्चिम की देन हैं। इस प्रकार समस्त भारोपीय भाषाओं की जननी संस्कृत को उन्होंने अपने परिवार की एक शाखा के रूप में प्रस्तुत कर दिया तथा वैदिक सनातन हिन्दू धर्म को जरथुस्त्र धर्म से प्रभावित बताया जबकि वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है। उन्होंने अपनी भेद नीति के तहत कृष्णवर्ण, द्रविड़ों एवं आर्यों के बीच नीच-ऊंच की फूट के ऐसे बीज बोए जो आज भी भारत की सांस्कृतिक समरसता के अवरोधक तत्त्व बने हुए हैं।

लेकिन इन वर्षों में इस विघटनकारी सिद्धांत को दो नये आविष्कारों (पुरातात्त्विक एवं भाषामूलक) से चुनौती मिली है। ऋग्वेद में भारत की सर्वाधिक पवित्र नदी गंगा का उल्लेख मात्र एक बार हुआ है, वहीं मिथक मानी जाने वाली नदी सरस्वती का पचास बार उल्लेख है। दीर्घकाल तक सरस्वती नदी को मिथक ही माना जाता रहा। यह धारणा तब तक रही जब तक कि अमेरिकन उपग्रह लैंडस्टेट ने हिमालय से निःसृत इस भव्य नदी के करीब चौदह किलोमीटर चौड़े पाट का छायाचित्र प्रस्तुत नहीं किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में पुरातत्त्वविद् पॉल हेनरी फ्रेंफफोर्ट ने सरस्वती नदी के पूरे क्षेत्र का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला था कि 'ईसा के 2200 वर्ष पूर्व भयंकर सूखे (अनावृष्टि) एवं अकाल के कारण सरस्वती नदी लुप्त हो गई। इस कारण वहाँ के निवासी सिंधु और सतलज नदी की ओर जाने के लिये बाध्य हुए।' आधिकारिक तौर पर यह कहा जाता है कि वेदों की रचना ईसा के पंद्रह सौ वर्ष पूर्व हुई, कुछ विद्वानों का अभिमत ईसा के बारह सौ वर्ष पूर्व का है। जबकि ऋग्वेद में अनावृष्टि के फलस्वरूप लुप्त हुई सरस्वती नदी के पूर्वकालीन भारतवर्ष का वर्णन है, जिसका तात्पर्य यह है कि वस्तुतः तथाकथित सिंधु अथवा हड़प्पा सभ्यता वैदिक सभ्यता का दाय है। यह सिंधु सभ्यता सरस्वती नदी के लुप्त होने के समय समाप्त हो गई।

हाल ही में मोहनजोदड़ो एवं हरप्पा के उत्खनन से सिंधु सभ्यता के काल की मुद्राएं प्राप्त हुई थी जिनकी लिपि को पढ़ने में सफलता प्राप्त की है नासा में एक समय कार्य कर चुके प्रसिद्ध गणितज्ञ डॉ. एन. राजाराम तथा सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ. झा ने। आर्यों के आक्रमण के पूर्वाग्रही विद्वानों ने यह माना कि ये मुद्राएं हड़प्पाकालीन अपरिष्कृत लिपि में लिखी गई हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि इन विद्वानों ने विश्वासपूर्वक यह दावा ही नहीं किया है कि वे इस लिपि को पढ़ने में सफल हो चुके हैं। इधर, इन मुद्राओं को पढ़ने में सफल रहे राजाराम तथा डॉ0 झा के मतानुसार 'हड़प्पाकालीन मुद्राएं वैदिक युग के परवर्तीकाल की हैं, वेदों से संबंधित साहित्य उपनिषद तथा सूत्रों से इनका गहरा संबंध है, इनकी लेखन शैली में सूत्रग्रंथों के सूत्रों की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है, इसके बिम्ब और प्रतीकार्थ पूर्णतः वैदिक हैं, इनकी शब्दावली वैदिक शब्द भंडार निघंटु तथा यास्क के भाष्य निरुक्त पर आधारित है, कम से कम दो मुद्राओं, संभवतः तीन मुद्राओं में यास्क का उल्लेख है, वेदकालीन राजाओं, ऋषियों तथा स्थानों के संदर्भ पाए गए हैं और महत्वपूर्ण तथ्य है कि इनमें सरस्वती के उद्गमस्थल प्लक्षाग्र तथा सप्त आपः (सात नदियों का प्रदेश) का भी निर्देशन है।'

इसका तात्पर्य यह हुआ कि हड़प्पा सभ्यता के बहुत पहले ऋग्वेद का लेखन हो चुका था। हड़प्पा सभ्यता का काल ईसा के 3100 वर्ष पूर्व से लेकर 1900 वर्ष पूर्व तक का है। इस हिसाब से ऋग्वेद का अस्तित्व ईसा के चार हजार वर्ष पूर्व माना जाना चाहिये। श्री आर. एस. बिस्ट के द्वारा हड़प्पा कालीन धोलावीरा नामक शहर के अनुसंधान से पुरातत्त्वीय संपुष्टि होती है। बिस्ट तथा अन्य पुरातत्त्वविदों ने यह निष्कर्ष निकाला कि सरस्वती नदी के क्षेत्रीय भू-भाग में रहने वाले आर्यों ने ही हड़प्पाकालीन शहरों का निर्माण किया तथा आर्य ही हड़प्पा सभ्यता से सम्बद्ध निवासी थे।

अतः अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि संभवतः भारत पर आर्यों का आक्रमण कभी भी नहीं हुआ था। इस सिद्धांत को उपनिवेशवादियों ने भारतीय जनमानस पर ओरोपित किया जिसे साम्यवादी इतिहासकारों, ईसाई मिशनरियों, जिनका एक मात्र उद्देश्य वनवासियों तथा द्रविड़ों को यह कहकर भ्रमित करना था कि ब्राह्मण आक्रमणकारियों ने हिन्दू धर्म को उन पर थोपा है और इसाई मिशनरी उन्हें ईसाई मत में दीक्षित करके उनका उद्धार करना चाहते हैं। इसे कम्यूनिस्टों (जो हिन्दू मात्र से घृणा करने वाले हैं) ने आज तक संपोषित कर रखा है। उपरोक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक है कि भारत के इतिहास का पुनर्लेखन हो ताकि भारतीय बच्चे अपनी प्राचीन देशज संस्कृति पर गर्व कर सकें और नया प्रतिपादित सिद्धांत न केवल एशिया अपितु संपूर्ण विश्व इतिहास में प्रयुक्त हो। अब हम नीचे पुराकालीन भारतीय इतिहास के नये कालक्रम का निर्देश करने का प्रयास कर रहे हैं।

घटना-युग	समय-वर्ष
1. सरस्वती नदी का लुप्त होना	ई. पूर्व 2200-1900 वर्ष
2. बड़े दुर्भिक्ष का प्रारंभ	ई. पूर्व 2200-2000 वर्ष
3. सूल्वसूत्र युग	ई. पूर्व 3000-2000 वर्ष
4. सरस्वती नदी के सूखने का प्रारंभ	ई. पूर्व 3100 वर्ष
5. सरस्वती सभ्यता का उत्कर्ष काल	ई. पूर्व 3200 वर्ष
6. वेद एवं ब्राह्मण ग्रंथों के रजत-(कुणाल) काल का प्रारंभ	ई. पूर्व करीब 3300 वर्ष
7. ऋग्वेद काल	ई. पूर्व के 3750 वर्ष
8. वैदिक युग का प्रारंभ	ई. पूर्व करीब-7000 वर्ष

A History of India as it happened, not as it has been written- Francois Gautier, Ph.041326 22255 से साभार।

अनुवादक - केशव प्रसाद कायां, कोलकाता

(भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के आस्थावान सुधी अध्येता कायांजी अब हमारे बीच नहीं हैं, हार्दिक श्रद्धांजलि -सम्पादक)

लोक साहित्य का सैद्धांतिक विवेचन

डॉ. भवानी सिंह

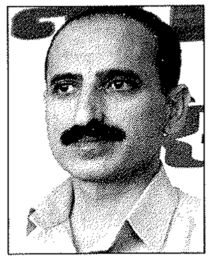

लोक साहित्य अपने आप में एक व्यापक विषय है। इसके अध्ययन से हम देश अथवा प्रदेश के विलुप्त सांस्कृतिक एवं सामाजिक तथ्यों को प्रकाश में ला सकते हैं। जो विषय हमें इतिहास में नहीं मिलते, वे सहज रूप से लोक साहित्य में मिल जाते हैं। इसका अस्तित्व उतना ही प्राचीन है, जितना कि मानव समुदाय का है। मानव जाति की उत्पत्ति के साथ ही लोक-साहित्य का जन्म भी हुआ है। इसलिए इनका आपस में अटूट सम्बन्ध है। इसके मूल में मानव समाज बोलता है तथा लोक संस्कृति प्रतिबिम्बित होती है। लोक साहित्य में अनेक राजाओं एवं महापुरुषों के जीवन की घटनाएं, प्रादेशिक वीरों का जीवन परिचय आसानी से मिल जाता है, क्योंकि जीवन तथा समाज को जितनी गम्भीरता से अभिव्यक्त करने की क्षमता लोक साहित्य में है, उतनी शिष्ट साहित्य में नहीं है। जीवन के वास्तविक, सहज और व्यापक सन्दर्भों को रूपायित करने की क्षमता लोक साहित्य की प्रत्येक विधा में अधिक देखी जा सकती है। इसलिए लोक साहित्य एक ऐसा साहित्य है, जो विरासत के रूप में एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सौंपती चली जाती है। यही कारण है कि इसमें परिवर्तन की बहुत कम सम्भावना हुआ करती है, क्योंकि यह प्रायः लोक संस्कारों से जुड़कर मौलिक रूप से समाज में हमेशा जीवित रहता है। मानव जाति के छोटे से छोटे अनुभवों, भोगे हुए क्षणों को जितनी सच्चाई और ईमानदारी से लोक साहित्य में अभिव्यक्ति मिलती है, उतनी शिष्ट-साहित्य में नहीं। यही कारण है कि लोक-साहित्य का महत्व शिष्ट-साहित्य से अधिक है। इसलिए लोक-साहित्य मानवीय समाज को समझने में अत्यधिक सहायक और उपयोगी है।

लोक :- भारतीय साहित्य में 'लोक' शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। 'लोक' शब्द संस्कृत की 'लोक दर्शने धातु में 'ध' प्रत्यय जोड़ने से निर्मित हुआ है। इस धातु का अर्थ है 'देखना'। इसका लट् लकार में अन्य पुरूष एक बचन 'लोकते' होता है। अतः 'लोक' शब्द का अर्थ हुआ– 'देखने वाला', इसलिए 'लोक' शब्द का अभिप्राय उस सम्पूर्ण समुदाय से है, जो किसी देश में निवास करता है।

लोक शब्द अत्यन्त प्राचीन है। 'लोक' विशद, विराट, विस्तृत, सर्वव्यापक कालिक, सार्वदेशिक है। इसे किसी एक अर्थ या परिभाषा की लक्ष्मण रेखा में बांध लेना सम्भव नहीं है। फिर भी विभिन्न विद्वान-आचार्यों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से इस विषय को देखने, समझने और परखने का प्रयास अपने ढंग से किया है। जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान है उन्हें 'लोक' की संक्षा दी जा सकती है।

'लोक से अभिप्राय कोई ऐसा स्थान जिसका बोध देखने से होता है अर्थात जगह। विश्व का कोई विशिष्ट भाग या स्थान जिसमें कुछ अलग प्रकार के जीव या प्राणी रहते हैं, जैसे जीवलोक, देवलोक, बह्मलोक और मनुष्य लोक आदि से लिया जा सकता है।'[1] बृहत हिन्दी शब्द कोष में लोकशब्द का अर्थ 'तीन लोक– भुवन, स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल दिया गया है'[2]

कृष्ण देव उपाध्याय भी 'लोक' शब्द को साधारण जनता का पर्याय मानते हैं कि 'जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं, उन्हें 'लोक' की संज्ञा प्राप्त हैं।[3] डॉ. श्याम परमार 'लोक' शब्द को नागरिक एवं ग्रामीण दोनों प्रकार की संस्कृतियों का संगम स्थल मानते हुए लिखते हैं कि 'लोक साधारण जन समाज है, जिसमें भू-भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं। समाज में नागरिक और ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्रायः उल्लेख किया जाता है, पर लोक दोनों में विद्यमान है।'[4] इस प्रकार लोक के अन्तर्गत वह समूचा जन-मानस आता है, जिसकी जीवन-पद्धति विशेष की अपेक्षा सामान्य एवं सहज अधिक होती है। कोई भी देश अथवा जाति कितनी ही भौतिक उन्नति क्यों न कर ले, जन साधारण की स्थिति को समाप्त नहीं कर सकती। जन सामान्य की स्थिति सभी कालों व देशों में अनिवार्य रूप से रही है तथा भविष्य में भी रहेगी।

संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर में 'लोक' शब्द का अर्थ- 'स्थान विशेष जिसका बोध प्राणी हो। उपनिषदों में दो लोक मान गये हैं– इहलोक और परलोक। निरुक्त में तीन लोकों का उल्लेख है– पृथ्वी, आंतरिक्ष और द्युलोक। पौराणिक काल में इन सातों लोक की कल्पना हुई– भूलोक, मुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, और सत्यलोक या ब्रह्मालोक। फिर पीछे इनके सात-सात पाताल– अतल, नितल, वितल, गभस्तिमान् तल, सुतल और पाताल मिलाकर चौदह लोक किए गए है।'[5]

अंग्रेजी में 'लोक' शब्द हेतु 'फोक' (Folk) शब्द का प्रयोग होता है। यूरोपीय विद्वानों में सबसे पहले जानआब्रे ने सन् 1687 में सर्वधारण जनता के रीति-रिवाज, रहन-सहन एवं अन्ध-विश्व आदि के अध्ययन को प्रारम्भ किया।'[6] डब्ल्यू. जे. थॉमस ने ई. सन् 1846 में प्रथम बार 'फोकलोर' शब्द का प्रयोग किया। उनका मत है कि 'प्राचीन असभ्य और पिछड़ी जातियों के अंधविश्वास, उनके रीति-रिवाज़ तथा उनकी प्रथाएं आदि के अवशिष्ट अंश ही आगे सभ्य कहलाने वाली जातियों में प्राप्त होते हैं।'[7]

मोनियर विलियमस ने 'फोक' शब्द को लोक तथा जन का पर्याय माना है।'[8] ऑक्सफोर्ड इन्साइक्लोपीडिक डिक्षनरी में फोक का अर्थ इस प्रकार दिया है, 'जनसामान्य, देश विदेश के लोग या विशेष तरह से जीवन यापन करने वाले लोग।'[9]

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' शब्द का अर्थ केवल 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं लिया है, बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।'[10]

इन परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'लोक' शब्द अपने आप में एक विराट स्वरूप है और मुख्य रूप से साधारण जनता और जगत् व स्थान के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। 'लोक' शब्द, लोक विश्वास, लोक कला, लोक साहित्य, लोक संस्कृति आदि लोकों से सम्बन्धित है तथा जो लोग संस्कृति एवं परिष्कृत लोगों के प्रभाव से दूर रहते हूए अपनी प्राचीन पारम्परिक स्थिति में वर्तमान है, वह लोक है। एक ओर यह शब्द सारे संसार और समाज को अपने आप में आत्मसात किए हुए है, तो दूसरी ओर अनपढ़ अशिक्षित, असभ्य और सभ्यता के प्रभाव में मुक्त होकर अपनी मूल पम्पराओं में रहता हुआ सामान्य जन का बोध करता है। अतः 'लोक' शब्द उतना ही प्राचीन है, जितना कि मानव इतिहास, 'लोक' शब्द का प्रयोग भारतीय पुरातन ग्रन्थों - वेदों, उपनिष्दों, भाष्यों भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र, ऋषि व्यास की शतसाहस्त्री संहिता में अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। ज्यो-ज्यों समय बढ़ता गया 'लोक' शब्द जनपद, ग्राम तथा पाश्चात्य साहित्य में 'फोक' शब्द के रूप में प्रयुक्त होने लगा।

लोक-साहित्य की परिभाषा को लेकर भी विद्वान एक मत नहीं हैं। विभिन्न विद्वानों ने लोक साहित्य की परिभाषा देकर उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है–

डॉ. सत्येन्द्र ने लोक साहित्य की परिभाषा को लेकर लिखा है कि, 'लोक की अभिव्यक्तिही लोक साहित्य है। संस्कृत में किसी भी अभिव्यक्ति के कहा जाता था जो और हिन्दी का साहित्य शब्द अंग्रेजी लिटरेचर का पर्याय

है। लिटरेचर के पर्यायवाची 'साहित्य' शब्द के अन्तर्गत ऐसी कृतियां ही आ सकेंगी जिन्हें लिखा पढ़ा जा सके। एक गीत महादेवी वर्मा लिखती या गाती हैं, एक गीत गांव की बुढ़िया केवल गाती है। दोनों गीत हैं परन्तु पहला साहित्य है, दूसरा लोक साहित्य। मनुष्य की वह समस्त सार्थक अभिव्यक्ति जो लिखित हो, या मौखिक हो, ऐसी ही समस्त लोक अभिव्यक्ति लोक साहित्य के अन्तर्गत होगी।'[11]

राहुल साँकृत्यायन का कहना है कि - 'सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली, अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है, उनकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि की अभिव्यंजना जिस साहित्य में होती है उसे ही लोक साहित्य कहते हैं। इस प्रकार लोक साहित्य जनता का वह साहित्य है जो जनता द्वारा जनता के लिए लिखा गया हो।'[12]

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, 'जो चीजें लोक चित्त से सीधी उत्पन्न होकर सर्व-साधारण को आन्दोलित, चलित और प्रभावित करती हैं, वे ही लोक साहित्य, लोक-शिल्प, लोक नाट्य, लोक कथानक आदि नानों से पुकारी जा सकती है।'[13] शंकर लाल यादव के अनुसार, 'लोक साहित्य एक पारम्पारिक निधि है जिसे लेखनी ने न कभी संवारा है, न सजाया है और न कदाचित् कभी इसे लेखनी की सहायता मिली है। यह तो प्रारम्भ से समाज की जिह्वा पर ही आसीन रहा है। सभ्यता और संस्कृतियों का उत्थान-पतन हुआ, साहित्य बना और बिगड़ा, परन्तु लोक साहित्य का स्त्रोत कभी शुष्क नहीं हुआ और आज भी उसकी धारा अविरल रूप से प्रवाहमान है।'[14]

हिन्दी साहित्य कोष के अनुसार 'लोक साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर आज जिसे सामान्य लोक समूह अपना मानता है और जिसमें लोक की युग-युगीन वाणी साधना समाहित रहती है, इसमें लोक मानस प्रतिबिम्बित रहता है।'[15]

सरोजनी रोहतगी लोक साहित्य को लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति मानती हैं। उनके विचारानुसार, 'लोक साहित्य से अभिप्रेत होगा कि लोक मानस की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति जिसमें संस्कृति लोक जीवन का एक महत्वपूर्ण अवयव है तथा जिसका प्रकटीकरण वार्ता, गीत, गाथा, नृत्य, टोने, टोटके आदि में हुआ है।'[16]

लोक साहित्य को परिभाषित करते हुए बंशी राम शर्मा लिखते हैं, 'लोक साहित्य समस्त जातियों की परम्पराओं, रीति-रिवाजों, रुढ़ियों, अंधविश्वासों, लोकगीतों, लोक कथाओं, मुहावरों, कहावतों तथा उन मान्यताओं का साहित्य है जो मौखिक रूप से बौद्धिक सम्पत्ति के रूप में एक मनुष्य से दूसरे को किसी कृतज्ञता के बिना प्राप्त होते हैं और जिनका सरंक्षण करना वह अपना कर्तव्य समझता है तथा जिन्हें वह अगली पीढ़ी को अपनी अर्जित सम्पति के साथ देता चला जाता है।'[17]

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि लोक साहित्य मानव जीवन की सहज अभिव्यक्ति है, क्योंकि लोक साहित्य और मानव जीवन का आपस में अटूट सम्बन्ध है। यह एक मौखिक परम्परा व्यक्ति विशेष की कृति होकर भी जन सामान्य की मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करती है तथा इसमें लोक संस्कृति का विविध चित्रण रहता है।

वस्तुतः हमारे जीवन के रीति-रिवाज, आचार-विचार, विधि-विधान, सुख-दुःख, मान्यता, विश्वास, संस्कार, अनुष्ठान तथा प्रथाएं लोक-साहित्य में अपने सहज एवं स्वाभाविक रूप में निसृत हुई हैं। लोकसाहित्य व्यक्ति विशेष का न होकर सपूर्ण समाज का होता है। यह जन द्वारा रचित जनता का साहित्य है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी आगे चलता रहता है।

उद्भव एवं विकास :-

जो लोक संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभावों से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं उन्हें लोक की संज्ञा प्राप्त है। लोक साहित्य धर्म की आधार शीला पर खड़ा है, क्योंकि सृष्टि का समस्त मानव-समाज मूल रूप से धर्म में आस्था रखता हैं। उपाध्याय के शब्दों में- 'सच तो यह है कि धर्म की आधारशिला पर ही लोक साहित्य की प्रतिष्ठा हुई है। जनता के इस लोकप्रिय साहित्य में वर्णित विधि-विधानों, रीति-रिवाजों, विश्वसों-परम्पराओं का रहन-सहन का अनुशीलन किया जाये तो इससे ज्ञात होगा कि उनको धर्म से कितनी प्रेरणा प्राप्त हुई है, कितना बल मिला है। यदि लोक साहित्य के निर्माण में धर्म का आधार प्राप्त न होता तो उसका इतना सजीव, स्वस्थ तथा सबल होना सम्भव न था।'[18]

अतीत में लोक-साहित्य का उद्भव एवं विकास कब और कैसे हुआ आदि प्रश्नों का उत्तर दे पाना सहज नहीं है। लोक साहित्य के जन्म का कोई निश्चित काल - रेखा नहीं हो सकती, क्योंकि लोक साहित्य का सम्बन्ध मानव से है तथा जिसकी अपनी जन्मगाथा अब भी विभिन्न अनुमानों एवं मत-मतान्तरों की भूल-भुलैया में भटकी हुई है। वस्तुतः लोक साहित्य का उद्भव तभी से माना जा सकता है, जब से मनुष्य ने सामाजिक जीवन जीना आरम्भ किया होगा। अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं की अभिव्यंजना सामाजिकता के अभाव में निरर्थक होती है। मौखिक परम्परा के अविच्छिन्न प्रभाव के रूप में यह निरन्तर अतीत के गर्भ में छिपे उद्भव स्रोत की ओर इंगित करता है।

'लोक साहित्य, आदिम से लेकर आधुनिक मानव तक, मौखिक परम्परा में जीवित रहा है, और आज इसकी प्रमाणिकता का विशिष्ट चिन्ह मौखिकता ही है। आदि मानव के पास प्रकाशन अथवा प्रसारण की आधुनिक सुविधाएं नहीं थीं, वह अपने सहज एवं नैसर्गिक विचारों की अभिव्यक्ति मौखिक रूप में ही करता था, जो कालान्तर में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक परम्परा में ही संप्रेषित होते रहे। अतः यह निःसंकोच रूप से स्वीकार करना होगा कि लिपिबद्ध एवं प्रकाशित पन्नों से अधिक, लोक साहित्य के प्रबल संवाहक, अनुकरणात्मक एवं मौखिक तत्व ही रहे हैं।'[19]

लोक साहित्य और समाज का आपस में गहरा सम्बन्ध है। समाज के साथ जुड़े होने के कारण मनुष्य आरम्भ से लेकर जीवन के अन्त तक कुछ न कुछ करता ही रहता है अर्थात् रोना, हंसना, खेलना, गाना और नाचना इत्यादि विषय लोक साहित्य के विभिन्न माध्यमों से अभिव्यक्तिप्राप्त करते हैं। वस्तुतः मनुष्य द्वारा पिछले युगों के ज्ञान को प्राप्त करने का दूसरा नाम ही लोक साहित्य है। अतः लोक साहित्य के विभिन्न रूपों की उत्पत्ति समाज के बिना असम्भव है और समाज का निर्माण लोक साहित्य के बिना अधूरा है।

लोक साहित्य लोक जीवन की अभिव्यक्ति है तथा मानव जीवन की उत्पत्ति के साथ ही लोक साहित्य के अविर्भाव को भी माना जा सकता है और इसी कारण मानव जाति के विकास के साथ ही इसका भी विकास हुआ होगा। लोक साहित्य के क्षेत्र विस्तार को अत्यंत व्यापक मानते हुए उपाध्याय ने मानव जीवन की विविध अनुभूतियों, मान्यताओं, परम्पराओं, लोक विश्वासों को लोक-सहित्य की परिधि में समाविष्ट किया है? 'लोक साहित्य का विस्तार अत्यन्त व्यापक है। साधारण जनता जिन शब्दों में गाती है, रोती है, हंसती है, खेलती है, उन सब को लोक साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि लोक साहित्य की व्यापकता मानव के जन्म से लेकर मृत्यु तक है तथा यह स्त्री, पुरुष, बच्चे, जवान तथा बूढ़े लोगों की मिश्रित सम्पत्ति है।'[20]

लोक साहित्य के क्षेत्र विस्तार के विषय में हम यह कह सकते हैं कि लोक साहित्य का उदय मानव जाति की उत्पति के साथ ही हुआ है तथा विकास भी लोक मानस के साथ ही हुआ है। यह समस्त जातियों की परम्पराओं, रीति-रिवजों, रूढ़ियों, अंध-विश्वासों, लोकगीतों, लोककथाओं, लोकगाथाओं मुहावरों, कहावतों तथा उन मान्यताओं का साहित्य है, जो मौखिक रूप से बौद्धिक संपत्ति के रूप में एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को बिना किसी कृतज्ञता से प्राप्त होते हैं और जिनका संरक्षण करना वह अपना कर्तव्य समझता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोक-साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

महत्त्व एवं विषेषताएं :– लोक साहित्य का मानवीय जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। इसमें युग-युगान्तर से एक सहज एवं प्राकृतिक परम्परा में रहने वाले मानव समुदाय की संस्कृति तथा इतिहास का विस्तृत चित्रण मिलता है। लोक साहित्य में हमारे धर्म, नैतिक मूल्य और सदाचार सम्बन्ध में जो अमूल्य सामग्री पड़ी रहती है, वह हमारे सांस्कृतिक जीवन की धरोहर है। इसके संरक्षण और अध्ययन करने की आज अधिक आवश्यकता है, जिससे इस धरोहर को सुरक्षित रखा जा सकता है। किसी भी देश की प्राचीन संस्कृति को समझने के लिए वहां के लोक साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। लोक जीवन की सच्ची झलक इसी में मिलती है, जो कुछ भी किसी क्षेत्र की सामान्य जनता के गृहस्थ जीवन में घटित होता है तथा किन्हीं विश्वासों के कारण रूढ़ होकर मानवीय समाज में प्रचलित होता है, वह लोक साहित्य की धरोहर बन जाता है। वस्तुतः लोक साहित्य किसी भी समाज और लोक व्यवहार का सजीव तथा जीता-जागता इतिहास होता है।

विभिन्न विद्वानों ने लोक साहित्य के महत्त्व को स्वीकारते हुए, इसकी निम्नवत् विशेषताओं को स्वीकार किया है-

लोक साहित्य का महत्त्व एवं विशेषताओं के सम्बन्ध में यादव ने अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए कहा है- 'लोक साहित्य मौखिक परम्परा से विकासशील प्रक्रिया में रहता है, उसकी शैली अलंकृत होती है, उसका रचयिता एवं रचनाकाल अज्ञात रहता है। लोक साहित्य प्रचार या उपदेश की प्रवृत्ति से दूर होता है, सभी धर्म-सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता उसमें मिलती है।'[21]

लोक साहित्य को लेकर उपाध्याय का मत है- 'लोक साहित्य उस निर्मल दर्पण के समान है, जिसमें जनता-जनार्दन का अखिल तथा विराट स्वरूप पूर्णरूपेण दिखाई पड़ता है। लोक संस्कृति का जैसा दिव्य तथा अकृत्रिम प्रतिबिम्ब इस साहित्य में उपलब्ध होता है, उसका दर्शन अन्यत्र कहां? इसमें जिस समाज का चित्रण किया गया है, वह स्वस्थ सदाचारी तथा धर्मभीरू है धर्म, समाज, नीति का यही मनोरम चित्रण इस साहित्य की महत्ता में चार चांद लगा देता है।'[22]

भ्रमर ने लोक साहित्य की विशेषता की ओर संकेत करते हुए कहा है- 'लोक साहित्य लोक मानस की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। यह बहुधा अलिखित ही रहता है और अपनी मौखिक परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी तक आगे बढ़ता रहता है। लोक का प्राणी जो कुछ कहता सुनता है, उसे समूह की वाणी बनाकर और समूह घुल-मिलकर ही रहता है। सम्भवतः लोक साहित्य लोक संस्कृति का वास्तविक प्रतिबिम्ब भी होता है। अभिजात, परिष्कृत या लिखित साहित्य के प्रतिकूल, लोक साहित्य परिमार्जित भाषा शास्त्रीय रचना पद्धति और व्याकरणिक नियमों से मुक्त रहता है। लोक भाषा के माध्यम से लोक चिन्ता की अकृत्रिम अभिव्यक्ति लोक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है।'[23]

अतः लोक साहित्य वह सजीव वस्तु है, जिसके द्वारा लोक की आत्मा बोलती है। आदिम युग से मानव जीवन की कहानी लोक साहित्य के माध्यम से ज्ञात होती है। लोक साहित्य में अभी भी असीमित ज्ञान व्याप्त है, यद्यपि इसे बोधगम्य बनाने के लिए बहुत प्रयास हुए हैं, तथापि असंख्य अनमोल रत्नों का अन्वेषण अभी भी अपेक्षित है।

अनिल लोक साहित्य की विशेषताओं को उद्घाटित करते हुए लिखते हैं- 'लोक साहित्य एक गतिशील (डायनामिक) विज्ञान है, इसमें व्यक्त परम्पराएं काल प्रवाह में बह नहीं जाती, वे नये-नये रूपों में प्रकट होती हैं। समय विशेष में लोक साहित्य का जन्म अवश्य होता है पर उसके पश्चात् वह सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं सार्वजनिक बन जाता है।'[24]

सरोजनी रोहतगी ने लोक साहित्य की विशेषता एवं महत्त्व के बारे में लिखा है,''हमारे यहां यह 'लोक साहित्य' शब्द एक व्यापक भाव की व्यंजना करता आया है। मानव के सम्पूर्ण रीति-रिवाज, आचार-विचार और उसके व्यवहार का स्वरूप जो किसी प्रकार के बन्धनों में जकड़ा नहीं होता, वरन् जिन व्यवहारों के द्वारा मानव स्वतन्त्र रूप से एक आत्म संतोष प्राप्त करता है- इस लोक साहित्य के अन्तर्गत आते हैं।'[25]

सत्येन्द्र, लोक साहित्य और समाज का घनिष्ट सम्बन्ध मानते हुए इनके महत्व को इस प्रकार व्यक्त करते है, 'लोक साहित्य और समाज का सम्बन्ध इसलिए निर्निवाद है कि लोक और समाज परम्परालम्बी हैं। किसी भी युग में लोक बिना समाज के और समाज बिना लोक नहीं हो सकता।'[26]

अतः लोक साहित्य अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और अहंकार शून्य परम्परा में जीवित लोगों की सामूहिक अकृत्रिम अभिव्यक्ति है। इसका रचनाकार अज्ञात रहता है। लोक साहित्य साधारण जनता की सुख-दुख की मौखिक अभिव्यक्ति है। यह साहित्य लोक रंजनात्मक तथा लोक चेतना का वाहक होता है। इसमें लोक संस्कृति का चित्रण विविध रूप में होता है, समय के प्रवाह से इसका स्वरूप परिवर्तित होता रहता है।

वस्तुतः लोक साहित्य का महत्व शाश्वत एवं स्थिर है। इसे समय विशेष की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। यह जन-मानस में लगातार गतिशील रहता है और इसमें साधारण जनता की भावनायें स्पष्ट और स्वच्छन्द रूप से वर्णित होती हैं। इसे सुना जाता है पढ़ा और पढ़ाया नहीं जाता। मौखिक आदान-प्रदान ही लोक-साहित्य के संरक्षण के आधार हैं। किसी भी क्षेत्र तथा जाति के इतिहास, संस्कृति, रीति-रिवाज, अन्धविश्वास, मनोवृत्तियों का परिचय लोक साहित्य के अध्ययन में शोधित किया जा सकता है। इस प्रकार से हम कह सकते

है कि लोक साहित्य का जनमानस से अटूट सम्बन्ध है।

वर्गीकरण :- लोक साहित्य जन-जीवन का दर्पण कहलाता है। इसमें साधारण जनता के हृदय से उद्गार तथा भाव प्रकट होते हैं। शिष्ट साहित्य के अध्ययन के लिए जिस प्रकार उसे कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि विभिन्न विधाओं में वर्गीकृत किया जाता है, उसी प्रकार लोक साहित्य को भी अध्ययन की सुविधा के लिए विभिन्न विधाओं में वर्गीकृत किया जा सकता है। शिष्ट साहित्य को पद्य और गद्य दो वर्गों में विभक्त किया जाता है, उसी प्रकार से लोक साहित्य को भी दो वर्ग पद्य और गद्य में बांटा जा सकता है। लोक साहित्य में गद्य के अन्तर्गत लोककथाओं, लोकोक्तियों तथा मुहावरों को लिया जा सकता है, जबकि पद्य के अन्तर्गत लोकगीत, लोकगाथा, लोक कविता, लोक नाट्य आदि लिये जा सकते हैं।

लोकसाहित्य के वर्गीकरण को लेकर विद्वान एक मत नहीं हैं। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचारानुसार लोकसाहित्य को वर्गीकृत करने का प्रयास किया है-

सत्येन्द्र ने लोक-साहित्य का वर्गीकरण निम्नवत् ढंग से किया है- लोक साहित्य - 1. धर्मगाथा, 2. परीकथा, 3. लोककहानी, 4. अबदान (लीजेण्ड), 5. दन्तकथा, 6.तंत्राख्यान, 7. लोकगीत, 8.लोकगाथा (बेलेड), 9. लोकोक्ति, 10. मन्त्र। [27]

कृष्ण देव उपाध्याय ने लोक साहित्य का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है-

लोक साहित्य- 1. लोकगीत, 2. लोकगाथा, 3. लोककथा, 4. लोकनाट्य, 5. लोकसुभाषित।[28]

जवाहर लाल हण्डू ने लोक साहित्य के पांच भाग स्वीकार किये हैं-

लोक साहित्य- 1. लोकगाथा, 2. लोकगीत, 3. लोकनाट्य, 4. लोकोक्तियां तथा पहेलियां, 5. लोककथा।[29]

संतराम अनिल ने लोक साहित्य को मुख्य रूप से निम्न छः भागों में बांटा है-

लोक साहित्य 1.लोकगीत, 2.पंवारा (प्रबनध गीत), 3. लोककथा, 4. लोकनाट्य, 5. कहावतें, 6. पहेलियां।[30]

सम्पति आर्याणी ने भी लोक साहित्य को आठ भागों में वर्गीकृत किया है-

लोक साहित्य- 1. लोककथा, 2. लोकगीत, 3.लोकनाट्य गीत, 4. लोककथा, 5. लोककथा गीत, 6.कहावतें, 7. मुहावरे, 8. पहेलियां।[31]

श्रीधर मिश्र ने लोक साहित्य की निम्न विधाओं को को स्वीकार किया है-

लोक साहित्य- 1.लोकगीत, 2. लोककथाएं, 3. लोकगाथाएं, 4.लोकनाट्य, 5. पहेलियाँ, कहावतें एवं मुहावरें।[32]

विभिन्न विद्वानों द्वारा लोक साहित्य के वर्गीकरण का अध्ययन करने के पश्चात् हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि लोक साहित्य के वर्गीकरण के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं है, क्योंकि हरेक विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से लोक साहित्य का वर्गीकरण किया है। गीत, कथाएं, गाथाएं, लोकनाट्य, लोक सुभाषित आदि जो भी लोकमानस की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, लोक साहित्य की विभिन्न विधाएं हैं। अतः उपर्युक्त विभाजन को ध्यान में रखते हुए अध्ययन सुविधा के लिए लोक साहित्य का सामान्य वर्गीकरण पांच भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

सामान्य वर्गीकरण- 1.लोकगीत, 2. लोकगाथा, 3. लोककथा, 4.लोकनाट्य, 5. लोकोक्तियां, मुहावरे एवं पहेलियां इत्यादि।

निष्कर्षतः लोकसाहित्य की वर्गीकृत इन विधाओं के माध्यम से ही हम किसी भी देश-प्रदेश एवं क्षेत्र के ग्रामीण जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, दैविक, ऐतिहासिक, पौराणिक, मनोरंजनात्मक तथा यथार्थ घटनाओं से सम्बन्धित पहलुओं का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर सकते हैं। इसलिए लोक साहित्य का सामान्य वर्गीकरण अध्ययन की दृष्टि से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। लोक साहित्य को समग्र भावना चेतना की आंशिक अभिव्यक्ति कहा जा सकता। यह प्रायः अलिखित रूप में ही विद्यमान रहता है और इसके अन्दर एक सम्पूर्ण लोक परम्पराएँ तथा लोक संस्कृति रहती है। यदि लोक साहित्य अतीत की प्रतिध्वनि है तो वर्तमान की आवाज़ भी उसमें सम्मिलित है।

वस्तुतः लोक साहित्य मानव समाज के उन लोगों का साहित्य है जो आधुनिक संस्कृति एवं नागरिक संस्कारों से दूर अपनी आदिम प्रवृतियों से आवद्ध सहजावस्था में जीवन व्यतीत कराते है। इस साहित्य में उनकी समस्त

भावधारा विरामहीन एवं अंतहीन रूप में प्रवाहित होती रहती है। परम्परा इस साहित्य का आधार है और जनभाषा इसकी अभिव्यक्तिका माध्यम है। श्रुति और समृति के द्वारा यह जनजीवन में संचित और सुरक्षित रहता है। अतः लोक साहित्य जनता के नैसर्गिक उद्‌गारों की सहज, स्वाभिक स्वाभाविक तथा मौखिक अभिव्यक्तिका साहित्य है।

सन्दर्भ :–

1. रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी शब्दकोष, पृ. 516। **2.** कालीका प्रसाद, बृहत् हिन्दी कोष, पृ. 1200। **3.** कृष्ण देव उपाध्याय, हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास? पोडष भाग, पृ. 14। **4.** श्याम परमार, भारतीय लोक साहित्य, पृ.10। **5.** रामचन्द्र वर्मा, संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ. 864। **6.** इन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सेस, पृ. 288। **7.** सत्यप्रकाश, बलभद्र प्रसाद मिश्र, मानक अंग्रेजी हिन्दी कोष, पृ.-533। **8.** मोनियर विलियम (सं.), ए डिक्शनरी इंग्लिश एण्ड संस्कृत पृ. 28। **9.** आक्फोर्ड अडवांसड लरनरस इन्साइम्लोपीडिया डिक्शनरी, पृ. 346। **10.** हजारी प्रसाद द्विवेदी, जनपद त्रेमासिक लोक साहित्य का अध्ययन, पृ. 65-66। **11.** सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृ.3। **12.** राहुल साँकृत्यायन, सं. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृ. 15-16। **13.** हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, पृ. 206। **14.** शंकरलाल यादव, हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य, पृ. 20. **15.** धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोष,पृ. 682। **16.** सरोजनी रोहतगी, अवधी का लोक साहित्य, पृ.6। **17.** बंशी राम शर्मा, किन्नर लोक साहित्य,पृ. 34। **18.** कृष्ण देव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृ. 270। **19.** जवाहर लाल हण्डू, कश्मीरी और हिन्दी के लोकगीत? एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ.7। **20.** डॉ. कृष्ण देव उआध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृ. 24। **21.** शंकर लाल यादव, हरियाणा प्रदेश का लोकसाहित्य, पृ. 39। **22 .** कृष्ण देव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृ. 27। **23.** रवीन्द्र भ्रमर, हिन्दी भक्तिसाहित्य में लोक तत्व, पृ. 5। **24.** सन्तराम अनिल, कनोजी लोक साहित्य,पृ. 32। **25.** सरोजनी रोहतगी, अवधी लोक साहित्य, पृ. 4। **26.** सत्येन्द्र गुप्त, लोक साहित्य विज्ञान,पृ. 500। **27.** सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृ. 89। **28.** कृष्ण देव उआध्याय, लोकसाहित्य की भूमिका, पृ. 60। **29.** जवाहर लाल हण्डू, कश्मीरी हिन्दी के लोकगीत? एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 5। **30.** संतराम अनिल, कन्नौजी लोकसाहित्य,पृ. 33। **31.**सम्पति आर्याणी, मगधी लोक साहित्य, पृ.5। **32.** श्रीधर मिश्र, भोजपुरी लोक साहित्य? सांस्कृतिक अध्ययन, पृ.14।

•

हिन्दी विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,
समरहिल,
शिमला- 171005

सुंदरता

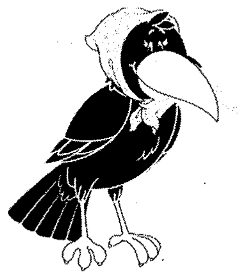

एक कौआ सोचने लगा कि पंछियों में मैं सबसे ज्यादा कुरूप हूँ। न तो मेरी आवाज ही अच्छी है, न ही मेरे पंख सुंदर हैं। मैं काला-कलूटा हूँ। ऐसा सोचने से उसके अंदर हीनभावना भरने लगी और वह दुखी रहने लगा। एक दिन एक बगुले ने उसे उदास देखा तो उसकी उदासी का कारण पूछा। कौवे ने कहा 'तुम कितने सुंदर हो, गोरे-चिट्टे हो, मैं तो बिल्कुल स्याह वर्ण का हूँ। मेरा तो जीना ही बेकार है।' बगुला बोला– 'दोस्त मैं कहाँ सुंदर हूँ। मैं जब तोते को देखता हूँ, तो यही सोचता हूँ कि मेरे पास हरे पंख और लाल चोंच क्यों नहीं है। अब कौए में सुन्दरता को जानने की उत्सुकता बढ़ी।

वह तोते के पास गया। बोला– तुम इतने सुन्दर हो, तुम तो बहुत खुश होते होगे? तोता बोला- खुश तो था लेकिन जब मैंने मोर को देखा, तब से बहुत दुखी हूँ, क्योंकि वह बहुत सुन्दर होता है। कौआ मोर को ढूंढने लगा, लेकिन जंगल में कहीं मोर नहीं मिला। जंगल के पक्षियों ने बताया कि सारे मोर चिड़ियाघर वाले पकड़ कर ले गये हैं। कौआ चिड़ियाघर गया, वहाँ एक पिंजरे में बंद मोर से जब उसकी सुंदरता की बात की, तो मोर रोने लगा। और बोला– शुक्र मनाओ कि तुम सुंदर नहीं हो, तभी आजादी से घूम रहे हो वरना मेरी तरह किसी पिंजरे में बंद होते।

देव भूमि हिमाचल प्रदेश की सांस्कृतिक परंपरा

छविंदर कुमार

पर्वत राज हिमालय के आंचल में समाया हिमाचल प्रदेश भारत का एक बहुत ही सुंदर प्रदेश है। यह नाम संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान आचार्य दीवाकर दत शर्मा जी ने दिया है। यह प्रदेश हिमालय पर्वत के पश्चिमी छोर में स्थित है। यह प्रदेश केवल हिम का ही अचल या पहाड़ नहीं बल्कि संपूर्ण भारत देश की आस्था व विश्वास का प्रतीक भी है। इस पवित्र भूमि को देवभूमि, ईश्वर का निवास, बैकुंठ इत्यादि नामों से भी पुकारा जाता है। हिमालयीन संस्कृति भारतवर्ष की संस्कृति का मूलाधार है क्योंकि भारत देश की संस्कृति ने हिमालय की चोटियों और तलहटियों में पनप कर समूचे देश में फैल कर अनेक रूपों में विकास किया है। हिमाचल प्रदेश भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तौर पर हिमालय का अभिन्न अंग है– अतः यहां की संस्कृति में वे सभी गुण समाहित हैं जो हिमालयीन संस्कृति में हैं।

संस्कृति एक ऐसा पर्यावरण है जिसमें रहकर व्यक्तिएक सामाजिक प्राणी बनता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार सम उपसर्ग के आगे कृति अथवा कार शब्द को जोड़ देने पर, सम + कृति = संस्कृति तथा सम + कार = संस्कार आदि शब्दों की निष्पत्ति का विधान है अर्थात संस्कृति संस्कार से ही संबंधित है। जीवन मूल्य संस्कार का दूसरा नाम है। इन्हीं संस्कारों से संस्कृति का आविर्भाव होता है। हिमाचल प्रदेश की संस्कृति में आर्य व आर्येतर संस्कृतियों का मणिकंचन संयोग हुआ है। लोगों के रहन-सहन आदि से लेकर रीति-रिवाज, मेले, उत्सव, धर्म, लोकनृत्य, लोकनाट्य, लोकगीत व अन्य लोककलाएं सभी संस्कृति के आधार स्तंभ हैं। महादेव शंकर जी की यह भूमि उनकी क्रीड़ा स्थली है। इसके किन्नौर जनपद में एक जगह किन्नर-कैलाश में आज भी शिवजी का वास माना जाता है। अपनी पुत्री उमा का दान करने वाले पर्वतराज हिमालय शंकर के ससुर जी भी हैं। **हिमाचल प्रदेश में जब शादी ब्याह होते हैं तो हर वर और हर वधू शिव और पार्वती की उपासना करते हैं। यहां के नगरों-गांवों के नाम देवी-देवताओं ऋषि-मुनियों के साथ जुड़े हैं–**जैसे निचले हिमाचल प्रदेश के बिलासपुर जनपद के साथ महर्षि व्यास, सुकेत के साथ शुकदेव, मार्कंड के साथ मार्कंडेय ऋषि, रेणुका सिरमौर जनपद में है जिसका संबंध जमदग्नि ऋषि से है, रेणुका और जमदग्नि ऋषि पति-पत्नी थे और विष्णु के अवतार वीर महापुरुष परशुराम जी के माता-पिता थे। कुल्लू जनपद के मनाली के साथ राजा मनु, मंडी जनपद का नाम मांडव्य ऋषि, मंडी का ही एक प्रसिद्ध शहर पांगणा के साथ पांडवों और कांगड़ा जनपद के भीमकोट के साथ भीम, बैजनाथ के साथ शिवजी और रावण के नाम जुड़े हुए हैं। ऐसे अनेक पवित्र स्थान इस देवभूमि में हैं जिनका संबंध किसी न किसी देवता या महाऋषि से है। पंजाब विश्वविद्यालय के एक खोजी दल को बिलासपुर से लगभग पैंतालीस किलोमीटर दूर पश्चिम में नालागढ़ क्षेत्र में हरितल्यानगढ़ के निकट एक

कंकाल प्राप्त हुआ था जो लगभग अस्सी लाख वर्ष पुराना है। इसी क्षेत्र में नृतत्वशास्त्रियों को एक मानव फासिल्स मिला है जिसे रामायिथेकस नाम दिया गया है। वैज्ञानिकों ने इसका काल 140 लाख वर्ष पूर्व माना है। अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि शायद **भारत में प्रथमतः मानव यहां की शिवालिक पहाड़ियों में निवास करता था।**

सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से हिमाचल प्रदेश को तीन भागों में बांटा जा सकता है– ऊपरी भाग जिसमें लाहौल स्पीति और किन्नौर जनपद हैं, मध्य भाग में शिमला एवं मंडी जनपद के ऊपरी भाग हैं तथा इसके अलावा कुल्लू, सोलन और सिरमौर के पूर्वी भाग शामिल किए जा सकते हैं। निम्न भाग में बिलासपुर, हमीरपुर, मंडी व कांगड़ा जनपद हैं। इस प्रदेश की अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान है जिसमें यहां के देवी-देवता उनकी पूजन पद्धति, मंदिर निर्माण व कला अपनी एक विशिष्ट पहचान रखते हैं। ऊपरी हिमाचल प्रदेश के लोगों के रीति रिवाजों और निम्न हिमाचल के लोगों के रीति रिवाजों में भिन्नता है। **किन्नर या किन्नौरा**, वर्तमान किन्नौर निवासियों को कहते हैं। महाभारत व अन्य भारतीय वांग्मय में किन्नरों का वर्णन यक्षों और गंधर्वों के साथ आता है। अर्जुन को अश्वमेध यज्ञ के अश्व की रक्षा करते समय हिमालय में किन्नर मिले थे, यही किन्नर अति प्राचीन समय से आज तक अपनी मौलिकता बनाए हुए हैं। किन्नर हिंदू और बौद्ध दोनों धर्मों के अनुयायी हैं। इन्हें नेगी कहकर संबोधित किया जाता है जो कि एक सम्मान सूचक संबोधन है। भेड़ बकरियां पालना इन लोगों का मुख्य व्यवसाय होता था लेकिन आज ये कृषि व बागवानी के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी हैं। किन्नौर में एक जंगी देहात पड़ता है उस देहात ने अनेक आई.ए.एस. और आई. पी. एस. भारत वर्ष को दिए हैं। ऐसे ही एक जनपद चंबा है जो निचले हिस्से में पड़ता है यहां एक जनजाति है **गद्दी** जो कि यहां के सिरमौर क्षेत्र के निवासी हैं और इनका मुख्य व्यवसाय भी भेड़ बकरियों को पालना है और ये बहुत ही भोले भाले और मेहनती लोग होते हैं। इस जनपद में एक पांगी क्षेत्र भी पड़ता है, यहां के निवासियों को **पंगवाल** कहा जाता है। लाहौल स्पीति जिले के निवासियों को स्थानीय भाषा में **लाहौले** कहा जाता है, यहां के लोगों की **बौद्ध धर्म में आस्था है।** क्षेत्रफल की दृष्टि से यह हिमाचल प्रदेश का सबसे बड़ा जनपद है और जनसंख्या की दृष्टि से सबसे छोटा। लाहौल के तांदी नामक स्थान पर जहां दो नदियों, चंद्रा और भागा का संगम होता है। जनश्रुति के अनुसार यहां चंद्रमा की पुत्री चंद्रा और सूर्य के पुत्र भागा का विवाह हुआ था। द्रोपदी का यहां शरीर छोड़ना भी माना जाता है। यहां पर हिडिंबा के सहोदर तांदी का राज होना भी माना जाता है। यह भी **विश्वास है कि महाभारत के विदुर** जो कि एक कुशल नीतिज्ञ के रूप में प्रसिद्ध हैं, **के दो पुत्र** मकरस और भोट हुए। **मकरस ने कुल्लू बसाया और भोट ने लाहौल व तिब्बत** की स्थापना की। लाहौल में बौद्ध धर्म की स्थापना आठवीं शताब्दी में पद्मसंभव ने की। गुरुघंटाल व करदंग लाहौल के प्रसिद्ध गोम्पा (बौद्ध मंदिर) हैं। गुरुघंटाल पदमसंभव के नाम से बना माना जाता है। लाहौल स्पीति में ही विश्व का सबसे अधिक उंचाई पर बसा गांव भी है।

यहां की संस्कृति में जन्म से मृत्यु पर्यन्त नाना प्रकार के रीति-रिवाजों के निर्वहन की एक सशक्त मर्यादा है। यहां सोलह संस्कारों जैसे गर्भधारण से लेकर अंत्येष्टि तक निभाने का रिवाज है। यहां **विवाह संस्कार** का आम जीवन पर अत्यधिक प्रभाव देखने को मिलता है। हिमाचल प्रदेश में क्षेत्रानुसार विवाह कई तरह से संपन्न किए जाते हैं। हिमालय के **दामन** में बसे इस राज्य के कुछ जिलों में प्राचीन काल से **बहुपति और बहुपत्नी** प्रथा रही हैं। शिमला, सोलन, सिरमौर, किन्नौर व लाहौल स्पीति जिलों में ये विवाह परंपरा रही हैं। काफी समय तक हिमाचल के ऊपरी क्षेत्रों, सिरमौर के गिरि पार के क्षेत्र व **सराज के इलाके में बहुपति प्रथा का प्रचलन** था जिसका मूल लोग महाभारत में ढूंढते हैं, जैसे पांच पांडवों ने एक पत्नी द्रौपदी से विवाह किया था। इस प्रथा के अनुसार सबसे बड़ा भाई शादी करता है तो शेष भाई स्वतः ही उसके पति समझ लिए जाते हैं और जो संतानें पैदा होती हैं वो बड़े भाई के नाम पर दर्ज की जाती हैं। इस प्रकार की शादी की सफलता स्त्री के निष्पक्ष व्यवहार पर निर्भर करती है, लेकिन अब धीरे धीरे यह प्रथा लुप्त हो गई है।

पति या पत्नी की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह को **झाझड़ा** कहा जाता है। कई मर्तबा जब एक ही परिवार में किसी औरत के पति की मृत्यु हो जाती थी तो वह औरत उसी परिवार में अपने जेठ या देवर से शादी कर लेती थी। मंडी, सोलन, सिरमौर व शिमला जनपद में मुख्यतः यह रिवाज रहा है और यह विवाह संयुक्त परिवार की एक मजबूत कड़ी माना जाता था। शिमला जनपद के ऊपरी क्षेत्रों **कोटखाई व रोहडू** इत्यादि के कुछ देहातों में जब शादी होती है तो **दुल्हा लड़की के घर बारात लेकर नहीं जाता** बल्कि दुल्हे के पिता व कुछ सगे संबंधी ही दुल्हन के घर जाते हैं और दुल्हन को लेकर गाजे-बाजे के साथ लौटते हैं। फिर लगन फेरे दुल्हे के घर पर ही वैदिक मंत्रोच्चारण से संपन्न होते हैं। विवाह संबंधी संस्कार में यहां **प्रेम विवाह** संबंधी रिवाज भी है इसमें लड़का और लड़की पारिवारिक सहमति के बिना विवाह कर लेते हैं। कबायली क्षेत्रों के विवाह संबंधी रिवाजों में **बट्टा-सट्टा, घर-जवांतरी, झंजराड़ा और झिड़-फुक** इत्यादि मुख्य है। बट्टा-सट्टा में वर अपनी सगी या चचेरी बहन के बदले में अपने बहनोई की सगी या चचेरी बहन से शादी करता है।

आमतौर पर हिमाचल प्रदेश में जब लड़के की **शादी होती है तो** चार पांच दिन पहले से ही महफिलें शुरू हो जाती है। लड़के के घर में संबंधियों का आना जाना शुरू हो जाता है, वैसे ही लड़की के घर पर भी शादी से पहले ही रौनक शुरू हो जाती है। जिस दिन शादी होती है सबसे पहले अपने अपने-अपने देवी देवताओं को प्रसन्न किया जाता है, उसके बाद ही अन्य रस्में निभाई जाती हैं। विदाई के समय मंगलमय आयोजन का अवसान एक करुण स्थिति में परिवर्तित हो जाता है। बेटी का अलग होना माता-पिता ही नहीं बल्कि सभी के लिए असहनीय हो जाता है। यहां एक विदाई गीत है *'दर पर खड़के नां रोयां मेरी देइ, अमां री भिगी जांदी चुन्नरी, पिते रा भिगी जांदा रमाल-से, दर पर खड़के नां रोयां मेरी देई।'* वाद्य यंत्रों व देव धुन से शादी शुरू होती है। महिलाएं समूह बनाकर मंगल गीत गाती हैं। इन गीत-गाथाओं में आंचलिकता का सीधा प्रभाव देखा जा सकता है। **लड़के और लड़की को शिव पार्वती का रूप माना जाता है।** दुल्हे के साथ बारात में सभी संबंधी झूमते हुए जाते हैं और वहां पर खूब मनोरंजन किया जाता है। दुल्हा और दुल्हन लग्न में परिणय सूत्र में बंधते समय **सात फेरे** लेते हैं। पूरे प्रदेश में कुछ-एक जनजातीय क्षेत्रों को छोड़कर विवाह ऐसे ही संपन्न होता है। बच्चे का जन्म होता है तो परिवार वाले आपस में भिगोये चने और गुड़ बांटते हैं तथा पड़ोस की स्त्रियों द्वारा गीत गाए जाते हैं। जैसे **'जन्मया कृष्ण मुरारी हो जन्मया दशरथो रा लाल प्यारा जा हो लोगों, लड्डू असा बांटी लेणे, करि लेणा सभी रा मुंह मीठा हो, जमया कृष्ण मुरारी, जमया दशरथ लाल हो ....** अर्थात पुत्र प्राप्ति हुई है, घर पर आज श्रीकृष्ण भगवान का जन्म हुआ है, राम भगवान का जन्म हुआ है। आज सभी खुशियां मनाएंगे, मिठाइयां खाएंगे और मुंह मीठा करेंगे। बच्चे के जन्म संबंधी अन्य संस्कारों में जैसे नामकरण, अन्न को चखना, मुण्डन और यज्ञोपवीत (जनेऊ) इत्यादि सभी धूम धाम से मनाए जाते हैं। लाहौल स्पीति में **मृत्यु** पर लामा (पंडित) बुलाया जाता है और वह अपना ग्रंथ देखकर बताता है कि शव को जलाना है, दफनाना है या निर्जन स्थान पर छोड़कर पशु पक्षियों को खिलाना है। किन्नौर में शव को नदी में डुबोना, या पशु पक्षियों को खाने के लिए कहीं निर्जन स्थान पर छोड़ना, शरीर को जलाना आदि मृत्यु संस्कार प्रचलित हैं। निचले हिमाचल प्रदेश में जब किसी व्यक्तिकी मृत्यु होती है तो उस समय सबसे पहले मृत्यु शैय्या पर पड़े व्यक्ति को जमीन पर लेटाया जाता है और उसके मुंह में शहद, तुलसी पत्र और सोना चांदी आदि धातु डाली जाती है जिसे पंचरत्न कहा जाता है और उसके पश्चात् लोग अपने अपने धर्मानुसार मृत्यु की रस्में पूरी करते हैं। ग्यारह दिन तक रस्म क्रिया के बाद शुद्धि हो जाती है, कई स्थानों पर शुद्धि वाले दिन से ही एक वर्ष तक मृतक के घर पर रात के समय एक दीपक जलाया जाता है। साल बाद **बारखी** व चार साल बाद **चमरखा** या चतुर्दशी दी जाती है और उसके बाद श्राद्ध किया जाता है।

हिमाचल प्रदेश की समृद्ध संस्कृति का जो आधार है वह है मेले व त्यौहार। ये मेले और त्यौहार राज्य की अनमोल थाती है। यहां पर लोक संस्कृति और देव संस्कृति का अनूठा समन्वय देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त यहां व्यापारिक, सामाजिक, ऋतुओं व मनोरंजन

के लिए भी मेलों का आयोजन किया जाता है। इन मेलों और त्यौहारों की रंगत से सारा वातावरण झूम उठता है। हिमाचल प्रदेश के प्रमुख मेलों में **कुल्लू दशहरा** जो कि अंतरराष्ट्रीय मेला है और इसका प्रारंभ 17 वीं शताब्दी में कुल्लू नरेश जगत सिंह ने किया था। जगत सिंह ने एक ब्राह्मण के शाप से बचने के लिए 1651 ई. में अपनी राजगद्दी को श्री रघुनाथ के श्रीचरणों में अर्पित कर दिया था, फिर 1660 में जगत सिंह द्वारा दशहरे की परंपरा आरंभ की गई। दशहरे के मेले में पहले दिन ढालपुर के मैदान से रथ पर रघुनाथ भगवान की यात्रा निकाली जाती है और समस्त देवी-देवता जिले के शेष भागों से मेले में पालकियों से आकर शिरकत करते हैं और सभी रघुनाथ जी को प्रणाम करते हैं। मेले के अन्तिम दिन रघुनाथ जी को व्यास नदी के किनारे लाया जाता है जहां लकड़ी और घास जलाये जाते हैं जो लंका दहन का द्योतक है। तदोपरांत रघुनाथ की मूर्ति को सुल्तानपुर में उनके मंदिर में ले जाया जाता है और समस्त देवी-देवता अपने-अपने मंदिरों को लौट जाते हैं। रघुनाथ भगवान की मूर्ति को दामोदर दास द्वारा 1651 में अयोध्या से लाया गया था। इस मेले की महत्ता इस बात से है कि यह केवल भारत वर्ष में ही नहीं अपितु विश्व भर में भी प्रसिद्ध है। इस पर्व में पांच सौ से ज्यादा देवी देवता शामिल होते हैं। 2014 में इस अंतरराष्ट्रीय दशहरे में 8540 महिलाओं ने एक साथ नाटी डालकर नृत्य किया। यह नृत्य लिम्का बुक ऑफ वर्ल्ड में दर्ज हुआ। वैसे ही अक्टूबर 2015 में भी इस प्राइड ऑफ कुल्लू में बेटी बचाओ थीम पर एक साथ 9892 महिलाओं द्वारा की गई नाटी को गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्ड में शामिल किया गया। कुल्लू जनपद के ही पड़ोसी जनपद, जो कि छोटी काशी और बनारस के नाम से जाना जाता है **मंडी में** दशहरे की भांति ही **शिवरात्रि मेला** लगता है। सप्ताह भर चलने वाला यह मेला भी भारत की संस्कृति व विरासत को सहेजे हुए है और एक जीवंत उदाहरण भी है। मान्यता है कि मंडी के राजा सूरज सिंह ने 1648 में अपने 18 पुत्रों की मृत्यु से आहत होकर अपना सिंहासन माधो राय श्री कृष्ण के हवाले कर दिया था। इसमें भी सैंकड़ों देवी देवता रथ व वाद्य यंत्रों सहित पड्डल मैदान पहुंचते हैं और माधो राय के मंदिर में श्रद्धा के फूल चढाकर महादेव मंदिर में भगवान शिव को प्रणाम करने के उपरांत मैदान में पधार कर सभी को अपना शुभाशीष देते हैं। देवी-देवताओं के गुर (गुरु) खेलते हैं और वर्ष की भविष्यवाणी करते हैं।

जनजातीय जिला **चंबा का मिंजर मेला** भी देश विदेश में प्रसिद्ध है यह श्रावण मास के दूसरे रविवार से आरंभ होकर अगले रविवार तक चलता है। यह चंबा शहर के संस्थापक राजा साहिल वर्मन के समय से आरंभ हुआ था। साहिल वर्मन एक वीर योद्धा थे और किर तथा तुरकश नामक शक्तिशाली कबीलों को हराया था। इसी खुशी में राजा को लोगों ने मिंजरें अर्थात मक्की के पौधे का ऊपरी भाग भेंट किया और राजा ने उन्हें खूब धन दौलत बांटी। उसी समय से यह मनाया जा रहा है। **सिरमौर** जनपद के रेणुका में मनाया जाने वाला **रेणुका मेला** भी बहुत प्रसिद्ध है जिसका संबंध परशुराम जी के पिता जमदग्नि ऋषि और मां रेणुका से है। लोकगाथा है कि सहस्रार्जुन ने जमदग्नि ऋषि को हरा दिया और उसने ऋषि की पत्नी का अपहरण करना चाहा लेकिन रेणुका कुंड में कूद गई जो झील बन गया। रेणुका ने पुत्र परशुराम का स्मरण किया जो उस समय बद्रीनाथ में तप कर रहे थे, उन्होंने तुरंत वहां पहुंच कर सहस्रार्जुन का वध कर दिया, तदोपरांत ऋषि और उनकी पत्नी वहां रहने लगे और परशुराम ने मां से प्रण किया कि मैं हर वर्ष आपसे मिलने यहां आया करूंगा। परशुराम जी ने अपना वचन निभाया, तभी यह मेला लगता है। शिमला जनपद का एक अंतरराष्ट्रीय व्यापार मेला है **लवी** जो कि शिमला से करीब सौ किलोमीटर दूर **रामपुर** में नवम्बर माह में होता है। यहां पर तिब्बत और संपूर्ण भारत के कारोबारी व व्यापारी व्यापार करने आते हैं। यह मेला दो सप्ताह तक चलता रहता है और लोग खूब खरीददारी करते हैं। इस मेले का सूत्रपात 1683 ईस्वी के आसपास बुशहर रियासत के सुप्रसिद्ध राजा केहरी सिंह के शासन काल में हुआ था। इसका प्रयोजन तिब्बत और लद्दाख के साथ ऊन, रेशम, मसाले व सुखे मेवे आदि का व्यापार स्थापित करना था। इसके अलावा **नलवाड़ी मेला** निचले हिमाचल के **बिलासपुर** जनपद में लगता है जिससे राजा अमरचंद के समय में शिमला हिल स्टेट्स के अधीक्षक डब्ल्यू

गोल्डस्टीन ने 1889 के लगभग शुरू करवाया था, यह मेला पशुओं के व्यापार के लिए प्रसिद्ध है। इन मुख्य मेलों के अलावा हिमाचल प्रदेश के हर कस्बे में कोई न कोई मेला होता ही है वो चाहे ऊपरी हिमाचल के **बिरसु** हों या निचले हिमाचल के **बैसाखी** मेले या अन्य मेले, हर महीने यहां कोई न कोई मेला चलता ही रहता है। कबायली इलाकों में हर वर्ष **लोसर** पारंपरिक मेले लगते हैं जो बहुत ही लोकप्रिय हैं। इसके अलावा **फूलाइच, फूलयात्रा,** चंबा का **छतराड़ी** मेला, हमीरपुर के सुजानपुर का **होली मेला, दियोटसिद्ध मेला**, कांगड़ा की **जन्म-अष्टमी, शिवरात्रि, नागिनी** उत्सव, **लिदबड़,** शिमला के **मशोबरा का भैंसों का मेला** व उन्ना जनपद में **बाबा बड़भाग सिंह मेला** इत्यादि प्रमुख मेले हैं। त्योहारों में दीवाली, बूढ़ी दीवाली, होली, लोहड़ी (मकर संक्रांति), नाग पंचमी, भुंडा, नवाला, रलीपूजन व बैशाखी इत्यादि हैं। **बूढ़ी दीवाली,** दीवाली के ठीक एक महीने उपरांत मनाई जाती है। सारे लोग इकट्ठे होकर रामायण की चौपाइयों को गाते हैं और आग के बड़े अंगीठे के चारों ओर नृत्य करते हैं। लाहौल स्पीति में इसे **खोजाला** कहा जाता है। **लोहड़ी** पर्व को भी धूमधाम से मनाया जाता है। लोग पवित्र स्थलों पर जाकर स्नान व तुलादान इत्यादि करते हैं। मंडी जिले के **तातापानी** नामक पवित्र स्थल पर गर्म पानी के प्राकृतिक स्रोत हैं और इस स्थल पर एक राज्य स्तरीय मेला होता है जो तीन दिनों तक चलता है। कुल्लू के **निरमंड** क्षेत्र का **भुंडा** उत्सव बहुत लोकप्रिय है। **यह नरबलि से संबंधित था** लेकिन समय के परिवर्तन के साथ साथ व सरकार के हस्तक्षेप से अब इसमें आदमी की बलि देना बंद कर दिया गया है और अब उसकी जगह बकरे बलि होती है। इसके पीछे भी कई तरह की मान्यताएं जुड़ी हुई हैं। कुछेक इसका संबंध परशुराम जी से भी मानते हैं। जनजातीय क्षेत्रों का नवाला उत्सव भी बहुत प्रसिद्ध है। शिव पूजा के रूप में मनाया जाने वाला यह पारंपरिक त्यौहार है। इसमें बहुत से बकरों की बलि दी जाती है। मंडी जिले के **करसोग** में **कामाख्या** देवी का मंदिर है वहां पर हर वर्ष अष्टमी के दिन एक **भैंसे की बलि** चढ़ती है, यह भैंसा महिषासुर का रूप माना जाता है। हालांकि पशु क्रूरता अधिनियम के अंतर्गत अब उच्च न्यायालय ने कुछ वर्षों से ऐसी प्रथाओं पर रोक अवश्य लगा दी है। यहां पर एक प्राचीन शिव मंदिर भी है जहां पर पांडवों के समय का एक **बहुत बड़ा गेहूं का दाना** रखा है जिसको देखने के लिए श्रद्धालुओं का यहां तांता लगा रहता है। **छोटी काशी** कही जाने वाली **मंडी** में ग्यारह हजार फीट की ऊंचाई पर एक **शिकारी मां** का मंदिर है जिसका संबंध भी प्राचीन समय से ही जोड़ा जाता है और कहते हैं कि पांडव अज्ञात वास के वक्त यहां रुके थे। इस मंदिर में छत नहीं है और वर्ष में आधा समय हिम से आच्छादित रहता है लेकिन मां की पींडियों के ऊपर बर्फ नहीं पड़ती है। यहां से कुछ मील दूर दूसरी पहाड़ी पर **कमरूनागजी** का मंदिर है। यहां पर पूरे वर्ष श्रद्धालुओं का आना-जाना लगा रहता है यहां पर लोग मन्नत मांगते हैं और मन्नत पूरी होने पर सोने और चांदी के आभूषण चढ़ाते हैं। हिमाचल प्रदेश में सती के अंगों से संबंधित **चार शक्तिपीठ** भी हैं। सती ने अपने पिता दक्ष के यज्ञ में पति के अपमान के कारण अपने प्राण दे दिए तो शिवजी ने उसके मृत शरीर को उठाकर तांडव शुरू कर दिया। विष्णु भगवान ने संसार को बचाने के लिए सुदर्शन चक्र से उसके शरीर के टुकड़े कर दिए जो कि भारत के विभिन्न 51 स्थानों पर गिरे। इनमें से वामहस्त मानसरोवर में, जिह्वा ज्वालामुखी कांगड़ा में, आंखें नैनादेवी बिलासपुर में, वक्ष ब्रजेश्वरी में पड़ी। जहां जहां पर ये सत्ती के शरीर के टुकड़े गिरते गए वहीं मंदिर बनाकर तीर्थ स्थलों के रूप में पूजा की जाती है। ऐसे प्रदेश में हज़ारों की तादाद में देवी मंदिर हैं और देवी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशु बलि दी जाती है। कहते हैं कि **बीसवीं शताब्दी तक तो देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य तक की बलि** दी जाती थी लेकिन अब बकरे की बलि दी जाती है, बकरे की बलि चढ़ाने का रिवाज तो आम बात है। हिमाचल प्रदेश में शिमला जिले के **निरथ में** एक भव्य सूर्य मंदिर भी है जो हिमाचल प्रदेश का **इकलौता सूर्य मंदिर** है।

यहां के मंदिरों में देवी देवताओं की पत्थर की मूर्तियां कम और सोने चांदी, पीतल या अन्य धातुओं की मूर्तियां अधिक हैं। देवी-देवताओं का भी एक अलग संविधान है और पद निश्चित है। छोटे देवी

देवता बड़े देवी-देवताओं के पास पालकियों से सज-धज कर वाद्य यंत्रों के साथ श्रद्धा के पुष्प चढ़ाने जाते हैं। प्रत्येक देवी देवता का एक गुर होता है और गुर का स्थान पुजारी से ऊपर का होता है। गुर प्रायः लंबे बाल व जटाएं रखता है। गुर जब खेलता-चलता है तो उसके साथ कुछ लोग भी होते हैं जिन्हें पंच कहा जाता है ये एक तरह से गुर की मंत्रिमंडलीय समिति होती है। अचेतन अवस्था में गुर द्वारा कही बातें दैवीय महत्व रखती हैं। पुजारी और गुर के पद वंशानुगत ही होते हैं। कुल्लू में मलाणा नामक स्थान है जहां अभी भी देवता का ही शासन चलता है और इस देवता का नाम है **जामलू** देवता। इस देवता को जमदग्नि ऋषि का रूप माना जाता है। शिमला और सिरमौर के शक्तिशाली देवताओं में **श्रीगुल, बिजट** और **महासु** देवता प्रमुख हैं। शिमला जनपद पहले महासु नाम से ही जाना जाता था। हिमाचल प्रदेश के निम्न भाग में **गूगाजी** के और उनके सहयोगियों के मंदिर भी बने हैं। गूगा जी के मंदिर को गूगा मेड़ी कहा जाता है जो राजस्थान में 'गूगा मेड़ी' मंदिर का प्रति रूप मानी जाती है। गूगा पर्व रक्षाबंधन के दिन से प्रारंभ होता है और मंडली के सदस्य गांवों में घर घर में घूमकर गूगा की लोकगाथाओं का गायन करते हैं। गूगा मंडली का भव्य स्वागत लोगों द्वारा तिलक, अन्न देकर व पूजा करके किया जाता है। **बिलासपुर, चंबा और कांगड़ा में गूगा उत्सव** लोगों की आस्था व विश्वास से जुड़ा हुआ है। विश्वास है कि गूगा जी सांपों व अन्य विषैले जीवों से रक्षा करता है। देवभूमि हिमाचल का चंबा जिला शिवभूमि नाम से प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, इंद्र देव व काली मां के मंदिर हैं। **तेरह हजार फीट की ऊंचाई पर मणिमहेश** एक तीर्थ स्थल है। भादो महीने की कृष्ण जन्माष्टमी से राधाष्टमी तक यहां पर हर वर्ष छड़ी लेकर पैदल यात्रा करते श्रद्धालु भगवान शिव का शुभाशीष लेने पहुंचते हैं। चंबा से श्रद्धालु वाहन द्वारा सरमौर पहुंचते हैं जिसे **चौरासी** भी कहा जाता है क्योंकि चौरासी सिद्धों ने यहां धूनी रमाई थी और तत्कालीन संतान विहीन राजा साहिल वर्मन ने बाद में अपने गुरु बाबा **चरपटनाथ** के शुभाशीष से अपनी बेटी चंपा के नाम पर यह शहर बसाया था और उनकी रानी सुनयना ने जीवित समाधि लेकर प्यासी जनता को पानी उपलब्ध करवाया था। **कुल्लू जनपद में 16000 फीट की ऊंचाई पर एक श्रीखंड महादेव** पर्वत है। यहां भी पैदल छड़ी यात्रा करते हुए पहुंचा जाता है। यह संसार की दुर्गम यात्राओं में से एक है। यहां लगभग 30 किलोमीटर की खड़ी चढ़ाई चढ़कर भोले बाबा का जयकारा लगाते हुए श्रद्धालु पहुंचते हैं। यह यात्रा मात्र पंद्रह दिन में ही समाप्त हो जाती है। रास्ते में बहुत से रहस्यमयी स्थान, पत्थर, उद्यान व सरोवर आते हैं। जनश्रुति है कि शिव से ही वरदान प्राप्त कर भस्मासुर नाम का मायावी दैत्य सर्वप्रथम शिव भगवान पर ही टूट पड़ा था तो भगवान शिव उस दैत्य से बचने के लिए एक गुफा में छुप गए। तदोपरांत विष्णु भगवान ने दैत्य भस्मासुर को नृत्य के लिए राजी किया था और नृत्य करते-करते उसने अपना हाथ अपने ही सिर पर रख दिया तो वह भस्म हो गया था। कहते हैं इसी कारण आज भी यहां की मिट्टी और पानी दूर से ही लाल दिखाई देते हैं। यहां पर एक पार्वती झरना भी है जहां मां पार्वती स्नान किया करती थी। भक्त यहां पर पवित्र स्नान करके आगे बढ़ते हैं। एक स्थान **किन्नर-कैलाश** नाम से किन्नौर जिले में है यह करीब **18 हजार फीट** की ऊंचाई पर स्थित है। किन्नौर जिले का यह सबसे ऊंचा पर्वत है और सदैव हिम से आच्छादित रहता है। यह स्थान भी भोलेबाबा की साधना स्थली रही है और श्रीखंड महादेव की तरह यह भी अत्यंत दुर्गम यात्राओं में से एक है और अत्यधिक ऊंचाई होने की वजह से यहां आक्सीजन का भी अभाव रहता है। प्रशासन द्वारा स्वास्थ्य परीक्षण करने के उपरांत ही यहां जाने की इजाजत दी जाती है। इसके अलावा सिरमौर जनपद में एक पर्वत है जिसे कि **चुड़धार** पर्वत कहा जाता है, यह भी भोलेबाबा के लिए ही समर्पित है। इस स्थान पर भी पैदल छड़ी यात्रा से ही पहुंच पाते हैं। जनश्रुति है कि हनुमान जी संजीवनी बूटी इसी स्थान से ले गए थे और आज भी यहां पर रात में अनेक जड़ी बूटियां चमकती रहती है। इस मार्ग पर भी अनेकों पौराणिक व रहस्यमयी स्थान हैं। चुड़धार से कुछ दूर हरिपुरधार में मां **भंगायणी** का गगनचुंबी मंदिर है। यह सिरमौर जिले की सबसे पूज्य देवी मां है। हर साल यहां पर देश विदेश से श्रद्धालु मां के दर्शन करने आते हैं। विद्वानों के मतानुसार यह देवी

मां शक्तिशाली देवता **शिरगुल महादेव की बहन है।**

कांगड़ा जनपद में मां **ज्वालाजी** के मंदिर में अज्ञात काल से ज्वालाएं निकल रही हैं। इस मंदिर के संस्थापक राजा भूमिचंद जी थे। मंदिर में भूमि के अंदर से अग्नि की लपटें या ज्वाला निरंतर निकलती रहती हैं जिनकी पूजा की जाती है। फिरोजशाह तुगलक (1351-1388 ई.) इस मंदिर से तेरह सौ के करीब संस्कृत के ग्रंथ अपने साथ ले गया था। किंवदंती है कि ज्वालाजी की ज्वालाओं की जानकारी जब बादशाह अकबर (1556-1605 ई.) को मिली तो उसने एक नहर का निर्माण करवाकर इन अग्नि शिखाओं पर नहर का पानी छोड़ा लेकिन ज्वालाएं नहीं बुझी, इतना ही नहीं अकबर ने इन ज्वालाओं को मिटा देने के लिए लोहे के तवे से ढक देने का प्रयास किया परंतु ज्वालाएं सघन लोहे के तवे की परत को चीरकर बाहर लपकने लगी और निराशा ही अकबर के हाथ लगी। अंततोगत्वा मां की चामत्कारिक शक्ति के आगे अकबर को झुकना ही पड़ा और हार मानकर नंगे पांव ज्वाला मां के दरबार में आया और सोने का छत्र मां को अर्पित किया। जनश्रुति है कि अकबर ने जिस दंभ का प्रदर्शन किया उसी के कारण सोने का छत्र न जाने किस मिश्रित धातु का बन गया। कांगड़ा में ही बैजनाथ नामक कस्बे में **बैजनाथ मंदिर** है और देश का सबसे पुराना शिव मंदिर माना जाता है जिसका निर्माण पांडवों ने किया। यह शिव लिंग के **बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक है।** जनश्रुति बताते हैं कि रावण ने यहां पर तपस्या की थी और भगवान भोलेनाथ से वरदान प्राप्त किया था। इसका पुराना नाम कीरग्राम था और कीर लोग यहां के निवासी थे। इन सभी स्थलों के अलावा बहुत से स्थल व मंदिर हिमाचल प्रदेश के हर गांव में हैं। कुछ ऐसे देवी देवता भी हैं जो कि बिना मंदिरों के रहते हैं और उनका वास खुले आसमान में है और बहुत ही शक्तिशाली व चमत्कारी देवताओं में माने जाते हैं। इसलिए ही इस प्रदेश को देवभूमि कहा जाता है। **यहां का जीवन व संस्कृति देवताओं के इर्द-गिर्द है।** यहां जनमानस पर देव संस्कृति की गहरी छाप है और इन सभी देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ही हर वर्ष मेले, त्यौहार व उत्सव मनाए जाने की रीत है। यहां जीवन की खुशहाली, सुख एवं शांति तथा दुख के क्षणों में देव आश्रय लेने की अत्यंत रोचक और प्राचीन प्रथाएं हैं। यहां रबी और खरीफ की फसल होने पर त्यौहारों एवं उत्सवों को मनाने की अनूठी परंपरा है। देवी-देवता मानव जीवन के प्रेरणा स्त्रोत हैं, उसके संरक्षक हैं।

हिमाचल प्रदेश की संस्कृति में **लोकगीत, लोकगाथाओं, लोकनृत्य एवं लोकनाट्य** का भी विशेष महत्व है। लोकगीत अत्यंत मधुर, आनन्दायक और लयात्मक हैं। इन लोक गीतों की झंकार खेत खलिहान से लेकर चरागाहों, राजमहल से खेती मजदूर, किसानों, जंगलों एवं उत्सवों सभी में अनुश्रवण करने को मिलती है। यहां की माटी से जब गीतों की भीनी-भीनी ध्वनियां मुखरित होती हैं तो मानों सारा अंचल नृत्य में झूम उठता है। मेलों, त्यौहारों, उत्सवों, खुशियों व देव उत्सवों के अवसर पर हिमाचल के गांव गांव में लोकगीत गाए जाते हैं और लोकनृत्य होता है। **नाटी** यहां का प्रमुख लोकनृत्य है। शिमला, सिरमौर, सोलन और मंडी में बहुत प्रसिद्ध है। यह नृत्य ढोल, नगाड़ों व शहनाई के साथ किया जाने वाला नृत्य है। नाटी के रूप में ही **मुंजरा, हुड़क, बिरसू** और **ढीली नाटी** शिमला जनपद में काफी प्रचलित लोकनृत्य है। एक **पत्थरबाजी खेल** परंपरा शिमला के धामी क्षेत्र में काफी लोकप्रिय है। हर वर्ष दीपावली के अगले दिन दो समूहों में, एक धामी का समूह और दूसरा जमोगी का समूह चौरा नामक स्थान पर पहुंच कर एक दूसरे पर पत्थरों की वर्षा करते हैं और यह तब तक निरंतर चलता रहता है जब तक किसी के बदन से पत्थर की चोट से खून नहीं बहता है। खून निकलने पर खून का तिलक चौरा पर बने सती स्मारक पर किया जाता है। माना जाता है कि रियासती काल में धामी की महारानी ने सती होने पर नरबलि बंद करवाने के लिए पत्थर के खून की होली शुरू करने का प्रस्ताव रखा था।

किन्नौर जनपद के लोकनृत्यों में गर **नृत्य, खार, जाबरो, नागन, छेरकी, कायड़ग, बोनयांगचु, बानयुंगचू, जातरू** व **लामा** नृत्य शामिल हैं। लाहौल स्पीति का **भूददेन, छम, कायड़** भी विशेष लोकप्रिय है। शिमला, सोलन, मंडी और सिरमौर जनपद में **करियाला लोकनाट्य** काफी प्रचलित है। ये शीत ऋतु में, रबी की

फसल बिजाई के दौरान शुरू होते हैं। यह खुले आसमान के नीचे गांव के चौराहे पर पूरी रात भर चलता रहता है और जो भी पात्र होते हैं वे सभी पुरुष ही होते हैं। देव-पूजा कर करियाला आरंभ होता है, गांव के सभी लोग इसे देखते हैं। इसका मुख्य प्रयोजन ग्रामीण संस्कृति को जानना और संरक्षित करना है, परोक्ष रूप से इसके द्वारा बहुत कुछ सीखने को भी मिलता है। करियाला वैसे तो हास्य रस से संबंधित है लेकिन नटों द्वारा इसमें प्राचीन रूढ़ियों, अंधविश्वासों, ढोंगी बाबाओं, साहुकारों, गांव के नंबरदारों इत्यादि पर खूब व्यंग्य किया जाता है। मंडी जिले में इसे **बांठड़ा** कहते हैं तो कांगड़ा में **भगतु** कहा जाता है। इनके अलावा चंबा जनपद के गद्दी समुदाय से जुड़ी अनेक गाथाएं काफी प्रसिद्ध हैं इनमें **कुंजू चंचलो** व **फुलमू रांझू** बहुत लोकप्रिय प्रेम गाथाएं हैं। कुंजू एक धनाढ्य परिवार से संबंधित था और चंचलो एक विपन्न परिवार से संबंधित। पहाड़ी पुरातन संस्कृति के अनुसार अविवाहित कन्या का संबंध किसी युवक से होना अपमानजनक माना जाता था तो गांववासी इसे अपना भी अपमान समझते हैं। अतः कुंजू को जान से मारने की धमकी दी जाती है। चंचलो को सब कुछ मालूम हो जाता है तब उसने कुंजू को सलाह दी कि तुम्हारी जान को खतरा है अतः तुम दूसरे गांव चले जाओ। वहां कुछ समय बाद कुंजू सेना में भर्ती हो गया उधर चंचलो के विरोध पर भी उसकी शादी अन्य युवक से हठ वश करवा दी गई। कुंजू को जब मालूम हुआ कि चंचलो की शादी किसी और से हो गई है तो वह चंचलो की तलाश करता हुआ चंचलो के पास पहुंच जाता है और चांदी का चूड़ा प्रेम-उपहार स्वरूप उसे दे दिया। चंचलो ने भी कुंजू के प्रेम में अपने विवाह में दी गई सारी चूड़ियां व चांदी के आभूषण तोड़ डाले। इस लोकगाथा में आज भी उस प्रेमी युगल के मार्मिक प्रणय संबंधों की स्मृति ताजा हो जाती है। एक अन्य लोकगाथा में **फुलमू** और **रांझू** भी बहुत प्रसिद्ध है। फुलमू चंबा के बधेरन गांव की सुंदर युवती थी और रांझू पडोसी गांव के एक नंबरदार का पुत्र था। रांझू फुलमू के सौंदर्य पर मोहित था और बांसुरी की मधुर धुनों से फुलमु के मन को रिझाता रहता था। नंबरदार ने पुत्र को समझाने की कोशिश की कि वह फुलमु से बात करना छोड़ दे, पूरे खानदान की बेइज्जती हो रही है। रांझू नहीं माना तो जबरदस्ती उसके लिए एक अन्य कन्या का रिश्ता तय करके विवाह करने की तैयारियां शुरू कर दी गई। पड़ोसी संतों ने फुलमु को बताया कि ऐसा हो रहा है तो फुलमु सदा के लिए विदा हो गई। दूसरे दिन जब रांझू की बारात जा रही थी तो दूसरी ओर से फुलमु की अर्थी आ रही थी। रांझू को जब पता चला कि यह फुलमु की अर्थी है तो रांझू पालकी से उतर कर अर्थी के साथ हो लिया। रांझू ने अपने हाथों से फुलमु की चिता बनाई और मुखाग्नि दी। यह प्रेम-गाथा आज भी चंबा ही नहीं बल्कि संपूर्ण हिमाचल प्रदेश में अमर है। बिलासपुर जनपद में **मोहणा-गाथा** भी लोकप्रिय गाथा है इसमें एक भाई को अपने भाइयों के अपराध के बदले फांसी के फंदे में लटकना पड़ा। गांव के बीच चौराहे पर यह फांसी दी गई थी और लोग मोहणा को लटकते देखकर रो रहे थे क्योंकि बेकसूर मोहणा फांसी पर लटकाया गया था जबकि अपराध भाइयों ने किया था।

हिमाचल प्रदेश के सांस्कृतिक परिवेश में गांवों का भोला भाला परम्परा प्रिय जीवन देखने को मिलता है। इस पर्वतीय समाज की इंद्रधनुषी संस्कृति अत्यंत मोहक है। यहां के देवी-देवता, पौराणिक स्थल, तीज त्यौहार, मेले, लोकगीत, लोकनाट्य व लोकगाथाएं इस समृद्ध संस्कृति के प्राण हैं। यहां की प्राकृतिक सुंदरता और संस्कृति दोनों मंत्रमुग्ध करने वाली है।

सहायक स्त्रोत

1. जगमोहन बलोखरा, अलौकिक हिमाचल प्रदेश, पृ.सं. 166। 2. वही ,पृ.सं.168। 3. वही,पृ.सं. 172। 4. श्री राम शर्मा, लोक साहित्य का सामाजिक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ.सं. 35। 5. वही, पृ.सं.36। 6. शरभ नेगी, हिमालय पुत्र किन्नरों की लोकगाथाएं, पृ.सं. 186। 7. एस. आर. हरनोट, हिमाचल के मंदिर और उनसे जुड़ी गाथाएं। 8. एस.आर.हरनोट, यात्राएं। 9. सूरत ठाकुर, हिमाचल की देव संस्कृति,पृ.सं.78। 10. हरिराम जस्टा, हिमाचल की लोक संस्कृति। 11. मिंया गोवर्धन सिंह, हिमाचल का इतिहास। 12. बंशी राम शर्मा, हिमाचल लोक संस्कृति के स्त्रोत। 13. सोमसी पत्रिका।

■■

शोधार्थी- हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय,
धर्मशाला, जनपद कांगड़ा,
हिमाचल प्रदेश, मो. 9418512979
ईमेल chhavindersharma39780@gmail.

संस्कृत कथा साहित्य एवं संथाली लोककथाएं : एक दृष्टि

डॉ. अरुणा, डॉ. सोहनराज परमार

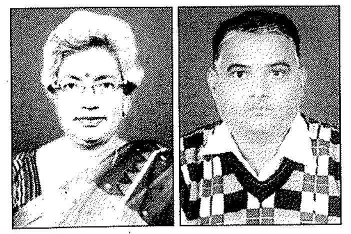

कथा मानव जीवन का अभिन्न अंग है। मनोरंजन के रूप में समय व्यतीत करने का यह सुन्दर साधन है। संपूर्ण विश्व साहित्य में भारतीय कथा का अपना विशिष्ट स्थान है क्योंकि कथा-साहित्य की उद्‌गम-स्थली भारत-भूमि ही है। कथा-साहित्य का उद्‌गम वैदिक युग से भी पहले जा पहुंचता है। ऋग्वेद के दशम मंडल में अनेक आख्यान प्राप्त होते हैं, जिनका विस्तृत कथा रूप शौनक ऋषि के 'बृहद् देवता' में उपलब्ध होता है। ब्राह्मण-ग्रंथों तथा उपनिषदों में भी अनेक कथाएं प्राप्त होती हैं। रामायण और विशेषयता महाभारत कथाओं के भाण्डार-रूप ही हैं।[1]

संस्कृत साहित्य के विभिन्न रूपों में कथा साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। लोकप्रियता, विश्व-व्यापी प्रभाव, रचना-कौशल और मौलिकता की दृष्टि से संस्कृत का कथा-साहित्य विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। संस्कृत की कहानियों का मुख्य उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करते हुए उन्हें लौकिक जीवन में सफलता प्राप्त करने की शिक्षा देना है। उनमें घटनाओं की विविधता, रोचकता, पाठकों के हृदय में कुतूहल उत्पन्न करने की क्षमता, हास्य और व्यंग्य की मनोरम छटा, हृदय को प्रभावित करनेवाली उपदेशात्मकता और कहीं-कहीं उत्कृष्ट काव्य की सी सरसता पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है।[2] इस आख्यान (कथा) साहित्य के दो भाग किए जा सकते है- 1. नीतिकथा एवं 2. लोककथा। नीतिकथा का लक्ष्य मनोरंजक माध्यम द्वारा उपदेश प्रदान करना है। इसके पात्र पशु-पक्षी होते हैं। वे मानववत आचरण करके गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। इनकी शैली रोचक एवं भाषा बड़ी प्रबोधक होती है जिसे छोटे-छोटे बालक भी आसानी से समझ सकते हैं। लोककथा का प्रधान लक्ष्य मनोरंजन करना है। इसमें पशु-पक्षी नहीं अपितु मानव-चरित्र कथानक की रीढ़ होते हैं।[3]

लोककथाओं का जन्म उस समय से माना जा सकता है, जब मनुष्य ने अपनी कल्पनाओं एवं अनुभवों को कथात्मक और फिर गाथात्मक रूप से कहना शुरू किया। लोककथाएं लोक-साहित्य का अभिन्न अंग है। अंग्रेजी में 'फोकलोर' शब्द का प्रयोग सन् 1887 ई. में अंग्रेज विद्वान सर थॉमस ने किया था। इससे पूर्व लोकसाहित्य के लिए पापुलर एंटीक्वीटीज शब्द का प्रयोग किया जाता था। भारत में लोकसाहित्य का संकलन एवं अध्ययन 18वीं शती के उत्तरार्द्ध में उस समय हुआ जब सन् 1784 ई. में कलकत्ता हाईकोर्ट के तत्कालीन न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने रॉयल एशियाटिक सोसायटी नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था के द्वारा एक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया जिसमें भारतीय लोककथाओं एवं लोकगीतों को भी स्थान दिया गया। भारतीय लोककथाओं के संकलन का प्रथम श्रेय कर्नल जेम्स टॉड को है जिन्होंने सन् 1829 ई. में 'एनल्स एंड एंटीक्वीटीज ऑफ राजस्थान' नामक ग्रंथ लिखा।

इस ग्रंथ में उन्होंने राजस्थान की लोककथाओं एवं लोकगाथाओं का भी संकलन किया। कर्नल टॉड के बाद कुछ और ग्रंथ आए जिनमें भारतीय लोककथाओं का अमूल्य संकलन था। इनमें प्रमुख थे- लेडी फेयर का ओल्ड डेक्कन डेज (1868). डॉल्टन का डिस्क्रिप्टिव इथनोलॉजी ऑफ बेंगाल (1872), आर. सी. टेंपल का लीजेंड ऑफ दी पंजाब (1884), मिसेस स्टील का वाईड अवेक स्टोरीज (1885) आदि। वेरियर एल्विन की दो पुस्तकें फॉकटेल्स ऑफ महाकोशल तथा मिथ्स ऑफ मिडिल इंडिया, रसेल एवं हीरालाल की कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑफ साउथ इंडिया, थर्सटन की दी ट्राईब्स एंड कास्ट्स ऑफ नार्थ-वेस्टर्न प्रोविंसेस एण्ड कास्ट्स ऑफ अवध, इंथोवन की ट्राईब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ बाम्बे आदि पुस्तकों में जनजातीय लोककथाओं का उल्लेख किया गया। इन आरंभिक ग्रंथों के उपरांत अनेक ग्रंथों में जनजातीय लोककथाओं को सहेजा और समेटा गया।[4]

लोक-कथाओं की प्रकृति सामाजिक है। समाज से प्राप्त और समाज के लिए अर्पित लोक-कथाओं का मूल प्रेरक समाज है। सामाजिक प्रकृति और परिवेश के प्रभाव में लोक-कथाओं का सृजन होता है। रचना-विधि में समाज-सापेक्ष कल्पना का सार्थक हस्तक्षेप होता है। मानव आदिकाल से ही अपनी रागात्मक भावनाओं की भाषागत अभिव्यक्ति गीतों, कहानियों, उक्तियों आदि के माध्यम से करता आया है। जन-साधारण की यह स्वाभाविक भाषागत अभिव्यक्ति ही लोक-साहित्य कहलाता है। इसका सृजन पूरा लोक या समाज करता है। समूची जाति ही लोक कथाओं की उद्भावना और पोषण का आधार होती है। वस्तुतः एक विशिष्ट व्यक्ति की वाणी ही धीरे-धीरे लोक-वाणी बन जाती है। समय के साथ-साथ लोककथाओं में कुछ नये अंश जुड़ जाते हैं और यदि कोई असामाजिक तत्व होता है तो उसका परिष्कार कर दिया जाता है। लोककथाएं लोक-जीवन के बीच से उपजती हैं। वे बनायी नहीं जातीं अपितु समय की मांग के अनुसार बनती चली जाती हैं। वे कभी परायी नहीं लगतीं क्योंकि उनमें लोक की अपनी ही अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। लोककथाओं में लोक-संस्कृति का चित्रण भी अवश्य होता है। लोककथाएं किसी संस्कृति का जीवन्त स्वरूप होती हैं। किसी भी संस्कृति के उद्गम के विषय में जानने और समझने में वाचिक परम्परा की उस विधा से आधारभूत सहायता मिलती है, जिसे लोककथा कहा जाता है। लोक-कथाएं वे कथाएं हैं जो सदियों से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी और दूसरी पीढ़ी से तीसरी पीढ़ी के सतत क्रम में प्रवाहित होती चली आ रही है। यह प्रवाह उस समय से प्रारम्भ होता है, जिस समय से मनुष्य ने अपने अनुभवों, कल्पनाओं एवं विचारों का परस्पर आदान-प्रदान प्रारम्भ किया। आदिवासी समुदायों में लोक कथाओं का जो रूप आज भी विद्यमान है, वह लोककथाओं के उस रूप के सर्वाधिक निकट है जो विचारों के सम्प्रेषण और ग्रहण की प्रक्रिया आरम्भ होने के समय रहा होगा। आदिवासी लोककथाओं में मनुष्य के जन्म, पृथ्वी के निर्माण, देवता के व्यवहार, भूत-प्रेत, राक्षस आदि से लेकर लोक-व्यवहार से जुड़ी कई कथाएं निहित हैं।[5]

आदिवासी देश के विभिन्न राज्यों उड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखंड, बिहार, असम, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि में रहते हैं। उनकी अपनी सामाजिक संरचना है, संस्कृति है तथा रीति-रिवाज और परम्पराएं एवं धार्मिक क्रियाएं हैं। उनकी अपनी विशिष्ट जीवन शैली है। विभिन्न आदिवासियों अथवा जनजातियों में जीवन शैली की दृष्टि से भिन्नता देखने को मिलती है।[6] भारत वर्ष में निवास करने वाली जनजातियों को तीन भौगोलिक क्षेत्रों में बांटा गया है- 1. उत्तर और उत्तरी पूर्व क्षेत्र, 2. मध्यवर्ती क्षेत्र एवं 3. दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र। छोटानागपुर का क्षेत्र मध्यक्षेत्र के अंतर्गत आता है।[7] यहां जनजातियों की घनी आबादी निवास करती है। संथाल जनजाति इस क्षेत्र में निवास करने वाली सबसे बड़ी जनजाति है। ये प्रोटो आस्ट्रोलायड की श्रेणी में आते हैं। इस श्रेणी के समुदाय को आरंभिक निवासी माना जाता है।[8] संथाल जनजाति के लोग छोटानागपुर के विभिन्न भागों में निवास करते हैं किन्तु इनका मुख्य निवास स्थान संथाल-परगना का क्षेत्र है।[9] लोककथाओं के माध्यम से इन आदिवासियों की आस्थाओं, जीवन-शैली, मान्यताओं एवं लोक-विश्वासों से परिचित होने में सुविधा होती है। लोक कथाओं की इस संरचनात्मक प्रकृति को समझने के लिए बानगी के रूप में यहां दो संथाली लोककथाएं देखी जा सकती हैं-

दुष्ट मेढ़ा- एक गांव में एक बुढ़िया रहती थी। वह बहुत गरीब थी और जैसे-तैसे अपना भरण-पोषण करती थी। एक बार गांव में एक मेला लगने वाला था। बुढ़िया ने सोचा कि यदि मैं इस मेले में अच्छी-अच्छी मिठाइयां बनाकर बेचूं तो अच्छी आमदनी होगी और कुछ दिन आराम से कट जाएंगे। यह विचार करके बुढ़िया ने साहूकार से उधार लिया और सामान खरीदकर ढेर सारी अच्छी मिठाइयां बना डाली।

मिठाइयां बनाने के बाद बुढ़िया ने विचार किया कि नदी में जाकर नहालूं फिर दो रोटियां खालूं, उसके बाद मिठाइयां लेकर मेले में चली जाऊं। इधर बुढ़िया नदी में नहाने गई और उधर एक दुष्ट मेढ़ा बुढ़िया की झोपड़ी में घुस गया। उसने झोपड़ी में अच्छी-अच्छी मिठाइयां रखी देखीं तो उसके मुंह में पानी आ गया। उसने कुछ मिठाइयां खालीं। तभी बुढ़िया नहा कर लौट आई। उसे अपनी झोपड़ी में किसी की आहट मिली तो वह डर गई। मेरी झोपड़ी में कौन है? 'बाहर निकल नहीं तो मैं बहुत मारूंगी,' बुढ़िया ने साहस करके चिल्लाकर कहा। इस पर मेढ़े ने कहा- तू मुझे क्या मारेगी बुढ़िया, तू मेरी ताकत के बारे में नहीं जानती है, मैं हाथी के दोनों दांत तोड़ सकता हूं, मैं शेर की मूंछें उखाड़ सकता हूं और सांप को रस्सी बनाकर उससे कुएं से पानी निकाल सकता हूं, चल अब भाग जा यहां से। मेढ़े की बात सुनकर बुढ़िया डर गई। उसे यह समझ में नहीं आया कि यह मेढ़ा है या उसकी झोपड़ी में कोई राक्षस घुस गया है। बुढ़िया ने गांव वालों से मदद मांगी किन्तु जो भी आता उसे मेढ़ा डींगें हाँककर डरा देता।

निराश होकर बुढ़िया मदद मांगने दूसरे गांव चली। रास्ते में उसे एक हाथी मिला। क्यों बुढ़िया दुखी क्यों हो, हाथी ने बुढ़िया से पूछा। मैंने पकाई ढेर मिठाई जाने कैसी आफत आई इक दानव ने हड़प ली लेकिन, मेरी सारी की सारी मिठाई, बुढ़िया ने हाथी से कहा। हैं? ऐसा है तो चलो अभी मैं उस राक्षस को भगा देता हूं, कहता हुआ हाथी बुढ़िया के साथ उसकी झोंपड़ी के पास पहुंचा। कौन है? बाहर निकल नहीं तो मैं तुझे सूंड से पकड़कर चीर दूंगा, हाथी ने मेढ़े को ललकारा। मेढ़ा था चालक। उसने पास ही रखा एक खाली घड़ा उठाया और घड़े में सिर डालकर गूंजती हुई आवाज में बोला- तू मुझे क्या मारेगा हाथी, तू मेरी ताकत के बारे में नहीं जानता है, मैं तेरे दोनों दांत तोड़ सकता हूं, मैं शेर की मूंछें उखाड़ सकता हूं और सांप को रस्सी बनाकर उससे कुएं से पानी निकाल सकता हूं, चल, अब भाग जा यहां से। हाथी ने मेढ़े की भयानक आवाज सुनी तो वह डर गया। उसे लगा कि यदि इस राक्षस ने मेरे दोनों दांत उखाड़ दिए तो मैं पेड़ों को कैसे हिलाऊंगा? नहीं, इससे उलझना ठीक नहीं है। यह सोचकर हाथी वहां से भाग खड़ा हुआ।

बेचारी बुढ़िया एक बार फिर दूसरे गांव की ओर चल पड़ी। रास्ते में उसे एक शेर मिला। क्यों बुढ़िया दुखी क्यों हो? शेर ने बुढ़िया से पूछा। बुढ़िया ने सारी कहानी गाकर बता दी। हैं! ऐसा है तो चलो। अभी मैं उस राक्षस को भगा देता हूं, कहता हुआ शेर बुढ़िया के साथ उसकी झोपड़ी के पास पहुंचा। कौन है? बाहर निकल नहीं तो मैं तुझे खा जाऊंगा, शेर ने मेढ़े को ललकारा। मेढे ने घड़े में सिर डालकर गूंजती, हुई आवाज में कहा- तू मुझे क्या मारेगा शेर? तू मेरी ताकत के बारे में नहीं जानता है, मैं तेरी मूंछें उखाड़ सकता हूं और सांप को रस्सी बनाकर उससे कुएं से पानी निकाल सकता हूं, चल अब भाग जा यहां से। शेर ने मेढ़े की भयानक आवाज सुनी तो वह डर गया। उसने सोचा कि यदि इस राक्षस ने मेरी मूंछें उखाड़ दीं तो फिर भला कौन मुझसे डरेगा? कौन मुझे राजा मानेगा? नहीं, इससे उलझना ठीक नहीं है। यह सोचकर शेर भी भाग खड़ा हुआ।

बुढ़िया एक बार फिर मदद मांगने दूसरे गांव की ओर चली। इस बार रास्ते में उसे सांप मिला। बुढ़िया ने फिर अपनी सारी कहानी गाकर बता दी। हैं! ऐसा है तो चलो अभी मैं उस राक्षस को भगा देता हूं, कहता हुआ सांप लहराता हुआ बुढ़िया के साथ उसकी झोपड़ी के पास पहुंचा। कौन है? बाहर निकल नहीं तो मैं तुझे डंस लूंगा, सांप ने मेढ़े को ललकारा। मेढ़ा ने घड़े में सिर डालकर गूंजती हुई आवाज में कहा, 'तू मुझे क्या डंसेगा सांप, तू मेरी ताकत के बारे में नहीं जानता है, मैं तो तुझे रस्सी बनाकर उससे कुएं से पानी निकाल सकता हूं, चल अब भाग जा यहां से।' सांप ने मेढ़े की भयानक आवाज सुनी तो वह डर गया। उसने सोचा कि इस

राक्षस ने यदि मुझे रस्सी बनाकर कुएं से पानी निकाला तो मेरे प्राण ही निकल जायेंगे। नहीं, इससे उलझना ठीक नहीं है। यह सोचकर सांप भी भाग खड़ा हुआ।

अब बुढ़िया बहुत परेशान हुई। उसे लगा कि वह दूसरे गांव तक जाएगी और यदि वहां के लोगों ने भी मदद नहीं की तो जाना और आना ही हाथ आएगा। यदि मिठाई नहीं बेच पाई तो न तो पैसे मिलेंगे और न साहूकार का उधार चुकता कर सकूंगी। फिर साहूकार मेरी झोपड़ी हड़प लेगा और मैं बेघर हो जाऊंगी। इस सारी मुसीबत की जड़ यह राक्षस है। बुढ़िया ने सोचा और उसे उस राक्षस रूपी मेढे पर क्रोध आने लगा। उसने आव देखा न ताव और एक मोटा-सा डंडा उठाकर अपनी झोपड़ी में घुस गई। जैसे ही उसे मेढ़ा दिखाई दिया उसने मेढ़े पर दनादन-दनादन डंडे बरसाने शुरू कर दिए। दस-बारह डंडे खाकर ही मेढ़े के प्राण-पखेरु उड़ गये। मेढ़े के मरने के बाद बुढ़िया ने बची हुई मिठाइयां समेटीं और उन्हें मेले में बेचने निकल पड़ी। मेले में पहुंचकर वह मिठाइयां बेचती जाती और गाना गाती जाती– *मैंने पकाई ढेर मिठाई, जाने कैसी आफत आई, इक दानव ने हड़प ली लेकिन, मेरी सारी की सारी मिठाई। दानव भगाने हाथी लाई, हाथी की भी चल न पाई। फिर मैं जाकर शेर को लाई, उसने भी थी दुम दबाई। फिर इक सांप भी आया लेकिन चली न उसकी हिम्मत, भाई। इसीलिए कहती हूं सुन लो! जो करना हो खुद ही करना, नहीं किसी से कभी भी डरना.... !*

लोग उसका गाना सुनते रहे और उसके गाने से प्रभावित दूने दाम में उसकी मिठाइयां खरीदते रहे। इस प्रकार बुढ़िया के साहस ने दुष्ट मेढ़े से उसे बचा लिया और घाटा भी नहीं होने दिया।

तोता और राजा

एक राजा था। उसके महल के उपवन में एक आम का पेड़ था। उस आम के पेड़ पर एक तोता रहता था। एक बार तोते को कहीं से सोने की एक अशर्फी मिल गई। तोता अशर्फी का भला क्या करता? इसलिए तोते ने वह अशर्फी लेजाकर राजा को दे दी। तोते को लगा कि राजा उसे धन्यवाद देगा, लेकिन राजा ने उससे कुछ नहीं कहा। इसके बाद राजा जब अपनी राजसभा में पहुंचा तो अपने सभासदों को अशर्फी दिखा-दिखाकर कहने लगा कि ये देखो, मेरे पास कितनी सुन्दर और कितनी कीमती अशर्फी है।'यह आपको कहां से मिली?' एक सभासद ने पूछा।

यह मेरे पुरखों के समय से मेरे पास है। राजा ने झूठ बोलते हुए कहा। जब इस बात का पता तोते को चला तो उसे बहुत क्रोध आया कि राजा ने सभासदों को यह क्यों नहीं बताया कि यह अशर्फी एक तोते ने दी है। तोते ने राजा के पास जाकर उससे झूठ बोलने का कारण पूछा। यदि मैं कहता कि तुमने मुझे यह अशर्फी दी है तो लोग मुझ पर हंसते कि मैंने एक तोते से अशर्फी ले ली, राजा ने कहा। लेकिन सच तो यही है, तोता बोला। इससे क्या होता है? जो मैं कहूंगा वही सच माना जायेगा, राजा इठलाकर बोला। लेकिन मैं सब को सच बताकर रहूंगा क्योंकि जब मैंने आपको यह अशर्फी दी है तो आपको मुझे इसका श्रेय देना ही चाहिए, भले ही मैं तोता हूं तो इससे क्या होता है, व्यक्ति अपने कर्म से बड़ा होता है, जाति-धर्म या समुदाय से नहीं, आप राजा हैं, आपको यह बात समझनी चाहिए, तोते ने राजा से कहा। ठीक है, तुमसे जो बने सो कर लो, तुम्हारा कहा कोई नहीं मानेगा, राजा हँस कर बोला।

राजा के व्यवहार से क्षुब्ध होकर तोता अपने घोंसले में लौट आया। कुछ देर बाद तोता पेड़ की सबसे ऊंची फुनगी पर बैठ गया और जोर-जोर से चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा–

बात सुनो सब करके गौर/राजा ठहरा पक्का चोर,
उसने एक अशर्फी पाई/ जो तोते ने उसे दिलाई,
राजा अब कहता है अपनी / जो है एकदम चीज पराई... !

राजा के नौकरों ने तोते का गाना सुना तो भाग कर राजा के पास पहुंचे और तोते के गाने के बारे में उसे बताया। राजा समझ गया कि तोता सबको असली बात बताए बिना नहीं मानेगा। उसने नौकरों को आदेश दिया कि जाकर उस तोते को मार डालें।

नौकर राजा का आदेश पाकर तोते को मारने जा पहुंचे। मगर तोते को मारना आसान नहीं था। एक तो वह सबसे ऊंची डाल की फुनगी पर बैठा था और उस पर यहां-वहां फुदक जाता था। तोते ने देखा कि राजा ने उसे मारने के लिए अपने नौकर भेजे हैं तो वह और जोर-जोर से गाने लगा और वही बात दोहराने लगा। राजा के नौकरों ने तोते का गाना सुना तो भाग कर राजा के पास पहुंचे और तोते के गाने के बारे में उसे बताया। राजा को बहुत गुस्सा आया। उसने स्वयं जाकर तोते को मारने का निश्चय किया। वह ढाल-तलवार लेकर निकला। तोते ने देखा कि राजा उसे मारने के लिए तलवार और ढाल लेकर आया है तो वह और जोर-जोर से गाने लगा और वही बात दोहराने लगा।

इस पर नौकरों ने राजा को समझाया कि महाराज एक छोटे से तोते को मारने के लिए ढाल-तलवार की क्या आवश्यकता है? उसे तो गुलेल से मार गिराया जा सकता है। राजा को नौकरों की बात पसंद आई। उसने गुलेल उठाई और जा पहुंचा पेड़ के नीचे। तोता दिखते ही राजा ने गुलेल से निशाना साधा और गुलेल चला दी। तोता तो फुदक कर दूसरी डाल पर जा बैठा लेकिन गुलेल का कंकड़ डाल से टकराकर पलट कर राजा को आ लगा। कंकड़ लगते ही राजा के प्राण पखेरू उड़ गए। इस प्रकार नन्हें से तोते ने राजा को उसके झूठ का दण्ड दे दिया और सबको सिखा दिया कि किसी को भी अपने से छोटा मानकर उसके अधिकारों का हनन नहीं करना चाहिए। *(- साभार : डॉ. सुश्री शरद सिंह)।*

इन दोनों लोककथाओं में कथा के पात्र मानव एवं मानवेतर दोनों ही प्रकार के हैं। दुष्ट मेढ़ा में बुढ़िया के साथ ही मेढा, शेर, हाथी, सांप– ये सभी कथा के पात्र हैं। अंत में बुढ़िया की हिम्मत और बहादुरी ने ही उसे मुसीबतों से छुटकारा दिलाया। इस तरह कथा की शिक्षा थी कि सामान्य व्यक्ति भी साहस दिखाए तो काम बन सकता है। दूसरी कथा 'तोता और राजा' में घमंड से दूर रहने एवं किसी को भी अपने से छोटा नहीं समझने की नसीहत है। भारत में आज भी अनेक आदिम जातियां अपनी मौलिक लोककथाओं, रीति-रिवाज एवं मान्यताओं के साथ जीवन-यापन करती हैं किंतु परिवर्तन के क्रम में ये आदिवासी जनजातियां भी धीरे-धीरे अपनी धरोहर खोने लगी हैं। अतः समय रहते आदिवासी लोक-कथाओं की इन धरोहरों को सहेज लेना अत्यंत आवश्यक है। ये कथाएं हमारे लिए उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कोई पुरातात्विक धरोहर। इनमें जीवन के अनुभवों एवं कल्पनाओं को बिना किसी कृत्रिमता के प्रस्तुत किया जाता है। इनमें आदि-जीवन का निचोड़ है तथा इनमें संचित ज्ञान का प्रवाह है। यह प्रवाह कहीं सरस्वती नदी की तरह लुप्त न हो जाए।

लोक-कथाओं का संरक्षण न केवल हमारे इतिहास को नष्ट होने से बचा सकता है, बल्कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी लोक-कथाओं का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि लोक-साहित्य भाषा-शास्त्र के लिए बड़ा उपयोगी, सहायक और मूल्यवान है। इसके संग्रहण से भाषा-शास्त्रियों के शोध-कार्यों में मदद मिलेगी। लोक-साहित्य में प्रचलित शब्दों द्वारा अनेक शब्दों का विकास संभव है। अनेक शब्दों की ऐतिहासिक परम्परा जानने हेतु लोक-साहित्य का अध्ययन अति सहायक सिद्ध हो सकता है।[10]

संदर्भ

1. गोयल प्रीतिप्रभा- भारतीय संस्कृति पृ. 260, प्र.- राजस्थानी ग्रंथागार-2011। **2.** शर्मा डॉ. गोविन्दराम- संस्कृत साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ-123, प्रकाशक- रीगल बुक डिपो, दिल्ली, प्र. सं.-1969। **3.** कुमार वचनदेव-संस्कृत साहित्य का इतिहास. पृ. 238 प्र.- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1995। **4.** सिंह डॉ. सुश्री शरद, भारत के आदिवासी क्षेत्रों की लोक-कथाएं प्र. नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 2013। **5.** सिंह डॉ. सुश्री शरद, भारत के आदिवासी क्षेत्रों की लोक-कथाएं, प्र.-नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 2013। **6.** सं.– मीणा डॉ. रमेशचन्द्र- आदिवासी विमर्श, पृ. 163 तथा गुप्त डॉ. आदित्य कुमार-आदिवासी कहानी साहित्य और आदिवासी जीवन संकट प्र.- राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, सं.-2013। **7.** अहमद जियाउद्दीन- झारखंड के आदिवासी, पृ. 74/75, प्र.- मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली-2008। **8.** ओमेली एम. द संथाल : ए ट्राइब इन सर्च आफ ए ग्रेट ट्रेडिशन, पृ. **10.** प्र.- वेन स्टेट युनिवर्सिटी प्रेस, 1965। **9.** वर्मा उमेश प्रसाद, बिहार का जनजातीय जीवन, पृ.-17, प्र.– वाराणसी पब्लिशिंग। **10.** सम्मेलन पत्रिका, भाग-99, संख्या चार (अक्टू-दिसम्बर 2014) पृ. 138 (डॉ. रामभरोसे-उत्तर खंड के लोक गीतों में क्रांतिकारी चेतना : एक अध्ययन)।

■■

- सेवानिवृत्त सह-आचार्य-संस्कृत कॉलेज शिक्षा राजस्थान, मो. 9414107599

- सह-आचार्य- हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, बाड़मेर (राजस्थान)

राजुला मालूशाही : कुमाऊं की प्रेमाख्यानपरक गाथा

डॉ. हेमचंद्र दुबे 'उत्तर'

लोक की अभिव्यक्ति को साहित्य कहने के साथ ही यह मान लिया गया है कि लोकगीत तथा गाथाएं आदि लोक काव्य के रूप हैं। लोक की अभिव्यक्ति लोकजीवन की प्रक्रिया का अंग है, पर साहित्यिक अभिव्यक्ति सर्जनात्मक होती है, वह जीवन से उद्भूत, प्रेरित या सम्बद्ध होकर भी अपनी तटस्थता अथवा असम्पृक्ति में उसका अंग नहीं हो सकती, साहित्य जीवन का सृजन है, पुनः जीने की प्रक्रिया है। लोकाभिव्यक्ति के क्षणों में समाज के बीच व्यक्ति अपनी सजगता में प्रमुखतः जीवन का अनुभव करता है, जबकि साहित्यिक यथार्थ जीवन के सृजन में भी सामाजिक जीवन का अनुभव न करके सृजन से असम्पृक्त सुख का अनुभव करता है।'[1]

भारतीय काव्यशास्त्र के आधिकारिक विद्वानों ने साहित्य को दो भेदों में बांटा है- (1) दृश्य काव्य, (2) श्रव्य काव्य। दृश्य काव्यांतर्गत मूल रूप से रूपक, नाटक, एकांकी, प्रहसन आदि आते हैं। श्रव्य काव्य को दो उपभागों में विभाजित किया गया है- (1) प्रबंधकाव्य तथा (2) मुक्तक काव्य। गाथा को श्रव्य काव्य के अंतर्गत रखा जाता है तथा यह प्रबंध काव्य के मानकों पर लिखी जाती है। गाथा के गायन में पूर्ण आख्यान चरणशः अभिव्यक्त किया जाता है। गाथा बड़ा ही प्राचीन शब्द है। ब्राह्मण ग्रंथों में गाथा शब्द का प्रयोग आख्यानों के लिए हुआ है। गाथा को प्राचीन प्राकृत आदि जनभाषाओं में "गाहा" कहा गया है। प्राकृत भाषाओं में गाथा साहित्य अपनी समृद्धि के साथ विकसित हुआ। प्राचीन साहित्य की नाराशंसी गाथाओं का लोकगाथाओं के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रहा है, यह गाथा पद्धति प्राचीन साहित्य में इतनी लोकप्रिय हुई कि 'गाथा छंद' नाम से एक स्वतंत्र छंद बन गया।[2] 'गाथा साहित्य की स्वतंत्र विधा है जिसका संबंध लोकजीवन तथा संस्कृति के साथ प्राचीन काल से ही रहा है'।[3] अंग्रेजी भाषा में गाथा के लिए Ballad (बैलेड) शब्द प्रयुक्त हुआ है, प्रो. कीट्रीज का मत है- बैलेड वह गीत है, जो कोई कथा कहता हो। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार 'लोकगाथा वह प्रबंधात्मक गीत है, जिसमें गेयता के साथ ही कथानक की महत्ता समझी एवं अभिव्यक्त की जाती हो।'[4]

उत्तराखंड को देवभूमि के नाम से भी जाना जाता है। इस पर्वतीय भूभाग में निवास करने वाली जातियों की अपनी अलग पहचान है। हिमालय की उपत्यका और सुदूरवर्ती जंगलों में निवास करने वाली जनजातियों को यहां की संस्कृति का मूल माना जाता है। 'राजुला मालूशाही' कुमाऊं क्षेत्र की एक प्रसिद्ध प्रेमाख्यानपरक गाथा है। कुमाऊं और गढ़वाल क्षेत्र में कई लोकगाथाएं प्राचीन काल से प्रचलित रही हैं, इन गाथाओं में उत्तराखंड की वैदिक तथा उत्तरवैदिक संस्कृति तथा सभ्यता के लक्षण दिखाई देते हैं। लोक साहित्य के जाने माने विद्वान डॉ. गोविन्द चातकजी ने इन लोकगाथाओं के संबंध में अपना अभिमत व्यक्त करते

हुए लिखा है-'मध्य हिमालय में लोकगीतों की भांति ही लोकगाथाओं का अक्षय भंडार है, किन्तु लोकगीतों की तुलना में अब वे या तो जाति-विशेष या अनुष्ठान विशेष की धरोहर बनकर रह गई हैं या नष्ट हो गई हैं, इनमें से धार्मिक पौराणिक जागर गाथाएं पूजा घड़ियाला के अवसर पर जागरी पुरोहितों के द्वारा देवता का आह्वान और नर्तन के लिए गाई जाती हैं, इनके अतिरिक्त आवजी बाजगी अथवा पुराने चंफ्या हुड़किया भी ये गाथाएं गाते हैं।'[5]

लोकगाथाओं को लोक की भावभूमि से जुड़ी अभिव्यक्ति माना जाता है, प्राचीन काल की घटनाओं और चरित्रों का लेखा-जोखा इन गाथाओं में वर्णित होता है। प्रो. शेर सिंह बिष्ट ने लोकगाथा के संबंध में लिखा है-'इन गाथाओं का नायक प्रायः कोई राजा राजकुमार, वीरपुरुष, योगी, पौराणिक देवता तथा नायिका कोई देवी, रानी महारानी या अनुपम सुंदरी रहती है, उन्हीं के इर्द-गिर्द पूरे लोकजीवन को अपने में समेटते हुए गाथा का ताना बाना बुना रहता है, जो लोकसंगीत के प्रवाह में लोकरंजन का भी साधन होता है। भारतेंदु नाट्य अकादमी उ. प्रदेश द्वारा संस्कृति विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार के लिए वर्ष 1995 में कुमाउंनी भाषा की उत्तराखंड की छह लोकगाथाएं प्रकाशित की गईं- (1) नंदा जागर, (2) कृष्ण रुकमणी की गाथा, (3) कृष्ण सत्यभामा की गाथा, (4) गड़दवी की गाथा, (5) भीमा कठैत की गाथा, (6) कल्याण बिष्ट की गाथा।'[6]

वर्गीकरण की दृष्टि से उत्तराखंड में प्रचलित लोकगाथाओं को इस प्रकार विभाजित किया गया है- 1) वीर गाथाएं, 2) प्रेमपरक गाथाएं, 3) ईश्वरीय अथवा देवी देवताओं पर आधारित लोकगाथाएं। उत्तराखंड के गढ़वाल और कुमाऊं मंडल में कई लोकगाथाएं प्रचलित रही हैं। इन गाथा आख्यानों में किसी विराट कथानक का समाजोपयोगी अस्तित्व निहित होता है। किसी कथा के भाव को आत्मसात करने वाली अभिवृत्ति लोकगाथाओं का प्रतिपाद्य है। वर्तमान में जागर गाथा बहुप्रचलित है। जागर गाथा में महाभारतकालीन व रामायणकालीन घटनाओं तथा चरित्रों का समावेश है। ये गाथाएं तत्कालीन परिदृश्य को लायात्मक कथावाचन के रूप में श्रोताओं के समक्ष रखती हैं।

डॉ. देव सिंह पोखरिया ने 'राजुला मालूशाही' गाथा का ध्वन्यांकन कर उसका हिन्दी रूपान्तर भी अपनी पुस्तक में किया है, उनके अनुसार-'राजुला मालूशाही' लोकगाथा कुमाऊं की सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय प्रेमाख्यानपरक लोकगाथा है, क्षेत्र और स्थान की दृष्टि से इस गाथा की भिन्न-भिन्न श्रुतियां मिलती हैं, गढ़वाल में भी यह गाथा समान रूप से लोकप्रिय है, कुमाउंनी में इसे 'मालूसाई' तथा 'मालसै' कहा जाता है, यह गाथा कुमाऊं के अल्मोड़ा जनपद के रीठागाड़ क्षेत्र से संकलित की गई है, इसके मुख्य गायक श्री रामसिंह राणा हैं। कुमाऊं में शीत ऋतु की लम्बी रातों में इसे विशुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से गाया जाता है, इसमें सहगायकों के दो या एक दल लम्बी आलाप लेते हैं, इसके साथ वाद्ययंत्र के रूप में हुड़का बजता है, कभी बांसुरी या मंजीरी का भी प्रयोग किया जाता है, गाथा गायक के कंठस्वर का माधुर्य गाथा को सुसंवेद्य, मनोरम और हृदयग्राही बना देता है।[7]

राजुला मालूशाही गाथा की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है- यह कुमाऊं क्षेत्र की प्राचीन प्रेमपरक लोकगाथा के रूप में सर्वत्र विख्यात है। दो प्रेमी हृदयों के मिलन की अभूतपूर्व घटना पर आधारित इसका कथानक बहुत उतार चढ़ावों से परिपूर्ण है। इस गाथा का नायक मालूशाह चौखुटिया (गेवाड़) जनपद अल्मोड़ा का निवासी है। राजुली जनपद पिथौरागढ़ के भोट प्रदेश में मुनस्यारी की रहने वाली है। बैराठ के राजा दुलाशाह और उनकी पत्नी धर्मादेवी तथा भोट इलाके के व्यापारी सुनपति शौक तथा उनकी पत्नी गांगुली दोनों दंपत्तियों के कोई औलाद नहीं थी। स्वप्न में माता भगवती ने दोनों दंपत्तियों को संतान प्राप्ति हेतु अनुष्ठान के लिए हरिद्वार जाने का आदेश दिया। दोनों दंपत्ति अलग-अलग हरिद्वार से भगवान शिवजी का आशीर्वाद लेकर लौटे, लौटते समय उनकी भेंट रानीबाग के काठगोदाम के पास चित्रशिला घाट पर हुई। इस संक्षिप्त भेंट में दोनों परिवारों में प्रेमपूर्ण संबंध हो गया और तय हुआ कि यदि किसी एक के पुत्र हुआ और दूसरे के पुत्री हुई तो दोनों का विवाह किया जायेगा।

कालांतर में सुनपति गांगुली के पुत्री पैदा होती है, उसका नाम राजुला रख दिया जाता है। उधर दुलाशाही-धर्मादेवी को पुत्र की प्राप्ति होती है। पुत्र का नाम 'मालूसाई' (मालूशाही) रख दिया जाता है। इस प्रकार राजुला, मालूशाही की वाग्दत्ता हो गई।

'मालू के एक-एक कर सात ब्याह होते हैं। वाग्दत्ता राजुली एक बार अपने पिता सुनपति के साथ व्यापार के लिए चौखुटिया गेवाड़ आती है, जहां उसकी भेंट राजकुंवर मालूशाही से होती है। दोनों का परिचय प्रगाढ़ प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। सुनपति को जब इस बात का पता चलता है, तो वह राजुला को लेकर भोट प्रदेश चल देता है। सुनपति धन के लालच में राजुला की मंगनी हूण राजा चंद्रपाल से कर देता है, राजुला अपने पिता के व्यापार के लिए तिब्बत चले जाने पर मार्ग की तमाम बाधाओं को पार कर मालूशाह से मिलने वापस बैराठ आती है। वह रात में मालू के महल में प्रवेश करती है। प्रेमिका के लाख जगाने पर भी मालू की नींद नहीं खुलती।' निराश राजुला मालूशाह को योगीवेश में भोट देश आने का संदेश छोड़कर लौट आती है। मालू को जब इस बात का पता चलता है, तब वह सारे बैराठ को बिलखता-रोता छोड़कर योगी का वेश कर राजुला से मिलने चल पड़ता है, कई माह पश्चात राजुला से उसकी भेंट होती है। वह धूनी रमा कर राजुला के महल में रहने लगता है। सुनपति मालूशाह को भोजन में विष मिलाकर मार डालता है। उसके शव को बर्फ में दबा देता है। सुनपति बलपूर्वक राजुला का विवाह चन्द्रपाल हूण से कर देता है। राजुला इस शर्त के साथ ब्याह को राजी होती है कि बारह वर्षों तक चंद्रपाल के साथ उसके संबंध पिता-पुत्रीवत रहेंगे। एक कौवा मालू की मृत्यु की सूचना बैराठ में धर्मादेवी को देता है। धर्मादेवी गढ़वाल से अपने तांत्रिक भाई मृत्युसिंह गढ़वाली को मालू की खोज करने भेजती है। मृत्युसिंह मालूशाह के शव को खोजकर उसे जीवित करता है तथा फदिया दोरयाल की सहायता से हूण देश में बंदिनी राजुला को मुक्त कराता है तथा दोनों शौक देश में लूटपाट कर मालूशाह व राजुला को बैराठ लाते हैं। बैराठ में बड़ी धूमधाम से मालूशाह और राजुला का विवाह सम्पन्न होता है। पूरी बैराठ नगरी में खुशी का माहौल हो जाता है। यह है राजुला-मालूशाही लोकगाथा की संक्षिप्त कथावस्तु।[8]

इस गाथा का कथानक दीर्घ घटनाचक्री तथा उदात्तता से परिपूर्ण है। कुमाउंनी परंपरागत समाज में यह जनश्रुति के रूप में व्यवहृत है। इस गाथा में मूल केंद्रीय कथा राजुला-मालूशाही के चरित्रों पर आधारित है। सहायक कथाओं में सुनपति-गांगुली, दुलाशाह-धर्मादेवी, कुसुमा, फदुवा (फदिया) दोरयाल, महर, रितू, चन्द्रपाल हूण, मृत्युसिंह गढ़वाली, हरकुवा कैड़ा व सिरू-पिरू रौत की कथाएं मूल कथानक को गति प्रदान करने में सहायक हैं। गाथा में गायक की लोककल्याणकारी मानसिकता इस मंगलाशीष में दिखाई देती है–

बचि रया यमरा मालना का भायौ, बचि रया यमाले यो दिना यो मासा/ भेटनै घाटनै अमरै की काया, अमरै रै जाया.....। (हमारे मालू के भाइयो जीते रहना, इस दिवस इस मास तक बचे रहना, आपसी भेंट करते हमारी काया अमर हो, सभी अमर हो जाना...)।

गाथा गायक कुमाउंनी परंपरागत वाद्य 'हुड़का' की थाप पर गाथा उच्चरित करता है। लयबद्ध रूप में गाता है– *ऐ ऽऽऽ (हुड़के की ध्वनि)/ धिन् तिप्र तिप्र धिन् ता धिना धिन ता धिना धिन/ भम्भमा भम् भम् भमा भम् पभम ऽऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽऽऽ/ गंगा ज्यू का यो किनारा बै ऽऽऽ ऐं ऽऽऽऽ/ बतूनी भुलू सुनूमूणी खाटा आ ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ/ ए ऽऽऽ राजा दुलाशाही रूँछियो ऽऽ बली एँ ऽऽऽ अ/ म्यारा भुलू रंगीली बैराठा ऽऽऽऽऽ/ ओ रजा रंगीली बैराठो ऽऽऽ ऽऽऽ*[9]*/ (गंगा जी के इस किनारे पर ऽऽ एँ ऽऽ/ बताते हैं भाई सोने मढ़ी खाट/ ए ऽऽ राजा दुलाशाह रहते थे बल/एँ ऽ/ मेरे भाई रंगीली बैराठ/ ओ राजा रंगीली बैराठ)।*

मालूशाही से मिलन की तीव्र उत्कंठा लिए राजुली बागेश्वर तीर्थ स्थान पर पहुंचती है– *'राजुली ऐ गे छौ बागेश्वरा मजा/ राजुला ऐगौछौ बागेश्वरा मजा, बागेश्वर मजा ऽऽ हा ऽऽऽ... / राजुली शौक्याणीऽऽ सारी रातू भरी/ सर्जू किनारै ड्यारै करि है छा ड्यारै करी है छा ऽऽ हा ऽऽऽ.../ ए ऽ भोला कै रै दिन मागौ के लाग्रेरौ/ नागेश्वरै माजू म्यालै मैं हुन्येरा, म्याला मैं हुन्येरा ऽऽ हा ऽऽऽ...*[10]*'/* (राजुली बागेश्वर में आ गई है। राजुली शौक्याणी रात भर बागेश्वर में डेरा जमाए रही। सरयू नदी के किनारे उसने डेरा डाल दिया है। भोले बाबा से आशीर्वाद मांग रही है। बागेश्वर में मेला होने वाला है।)

डॉ. पोखरिया जी के शब्दों में– 'भावाभिव्यंजना की दृष्टि से यह गाथा हृदय पर अमिट छाप छोड़ती है। राजुला और मालूशाह के मध्य मिलन के क्षणों में हास परिहास, व्यंग्य, उपालंभ, प्रेम-निवेदन, अभिलाषा, उत्कंठा, मिलने की आतुरता एवं छटपटाहट दिखलाई पड़ती है, किन्तु संयोग की उन्मुक्त केलि क्रीड़ा का वर्णन कहीं नहीं मिलता। संयोग के क्षणों का मिलन श्लील और मर्यादित है यथा– *मालूसाही राजा दूजा पाणि प्यासै पै लागी रैछी/ रौहौया किनारा च्येली गंगा में जै रौछौ/ ए राजुली कौ चालो पोथिया पाणी में जैरौछा ऽऽ.../ देबि कसि मूरत देखैंछौ बलैहारी ल्यौंला/ गिंवाड़ा भगापति आजा दर्शन है राया ऽऽ...।*[11]*/* (मालूसाही को प्यास लग गई पानी की, पानी के सरोवर पर गंगा में चला गया है। राजुली का प्रेमी पानी में गया है। देवता की जैसी छवि दिखाई दे रही है, तुम्हारी बलिहारी जाऊं, गेवाड़ के राजकुमार के आज दर्शन हो गए हैं)।

राजुला रूपवती लावण्यमय भोट कन्या है, उसके सौंदर्य की उपमा देना कठिनतर हो रहा है। गाथा गायक राजुला के सौंदर्य की उपमा प्राकृतिक उपादानों से देता हुआ कहता है– *'चैतै की कैरुवा कसी, पूसै की पालिङा/ भदौ की भङावा राजुला शौक्याणा ऽऽऽऽ..../ अधराती में जाणी फुलवाड़ी खिलैछौ/ जैकी मुखड़ी देखी सूरजि हूं मधिमा ऽऽ....।'*[12] (चैत्रमास की कैरुवा एक कांटेदार पेड़ के साथ उगने वाली पुष्ट वनस्पति- जैसी, पौष के पालक जैसी, भाद्रपद के भांग सी राजुला शौक्याणी। ऐसा लगता है मानो अर्धरात्रि में फुलवारी खिली हो, इसका मुख देखकर सूर्य मद्धिम हो जाता है)।

संपूर्ण गाथा में कई ऐसे उतार चढ़ाव हैं जो राजुली और मालूशाही के मनोबल को तोड़ने में कारगर सिद्ध हो सकते थे, किंतु प्रेम की सच्ची पीर उन्हें मुकाम तक पहुंचा कर छोड़ती है। प्रस्तुत गाथा की भाषा रीठागाड़ी या चौगर्खिया बोली है। कहीं पर पूर्वी कुमाउंनी का भी प्रभाव दिखाई देता है। छंदशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान प्रो. डी.एस. पोखरिया का कहना है कि इस गाथा की गायन पद्धति ने विभिन्न छंद रूपों का निर्माण भी किया है। कुमाउंनी में वर्णिक छन्द उच्चारणगत वैशिष्ट्य प्रदर्शित करते हैं। इसी क्रम में इसमें कुमाउंनी के 8 वर्णों से लेकर 24 वर्णों तक के सम और अर्धसम मुक्तक वर्णिक लोकछंदों का प्रयोग हुआ है। लयात्मक प्रभाव संपूर्ण गाथा को रससिक्त बना देता है। गाथा में विप्रलम्भ शृंगार का आधिक्य है। राजुला मालूशाही गाथा में लोकजीवन की अनूठी परंपरा का कुशल निर्वहन है। प्रस्तुत गाथा के माध्यम से यहां की लोकसंस्कृति को समझने में मदद मिलती है।

संदर्भ

1. डॉ. रघुवंश-लोक काव्य की भावभूमि और रसनिष्पत्ति, हिन्दी अनुशीलन, डॉ. धीरेंद्र वर्मा विशेषांक- पृ. 503-504। **2.** डॉ. उर्वादत्त उपाध्याय, कुमाऊं की लोकगाथाओं का साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 63। **3.** वही, पृ. 64। **4.** डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (ना.प्र. सभा 16वां भाग)। **5.** डॉ. गोविन्द चातक, भारतीय लोक संस्कृति का संदर्भ : मध्य हिमालय, पृ. 243। **6.** डॉ. शेरसिंह बिष्ट, उत्तरांचल : भाषा एवं साहित्य का संदर्भ, पृ. 265-66। **7.** डॉ. देवसिंह पोखरिया, 'राजुला मालूशाही,' पृ. 01। **8.** वही, पृष्ठ. 02। **9.** वही, पृ. 20। **10.** वही पृ. 52। **11.** वही पृ. 05-06। **12.** वही, पृ. 06।

■

(असिस्टेंट प्रोफेसर- हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, गरुड़)
ग्राम-सिल्ली,
पोस्ट- गरुड़ (बैजनाथ)
जनपद-बागेश्वर (उत्तराखंड) - 263641
मो. 9411597209

राजस्थान के लोकरंजक पेशेवर करतबबाज

ब्रजेंद्रकुमार सिंहल

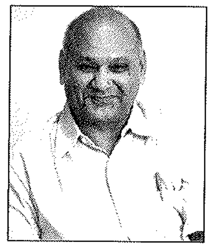

मनुष्य संवेदनाओं का पुंज है, मशीन की भांति ही कार्य करता रहे तो उसका जीवन सर्वथा नीरस हो जाए। अतः समाज में कुछ समूह विभिन्न कलाओं में पारंगत होकर समय-समय पर अन्य समूहों का मनोरंजन करने का काम करने लगे। ऐसी ही कलाओं में से कुछ कलाओं के नाम हैं नटबाजी, जादूगरी, बाजीगरी, कलंदरी आदि। नट, बहुरूपीया, मदारी, कलन्दर, भानमती, भांड आदि-आदि, ये सभी घूमन्तू हैं जो भ्रमणरत रहकर अपनी कलाओं को प्रदर्शित कर अन्यों का मनरंजन करते हैं और स्वयं के लिए आजीविका उपार्जित कर अपनी घर-गृहस्थी संचालित करते हैं।

नट : नट अपनी कला की उत्पत्ति हनुमानजी से मानते हैं। नटों का कहना है कि हनुमानजी महाराज उछल-कूद करने में, करतब करने में परम प्रवीण थे; अतः हमारी कला का उद्गम हनुमानजी महाराज से मानने का विश्वास हमारे समाज में बद्धमूल है। ये हनुमानजी को तैल चढ़ाते व चूरमें का भोग लगाते हैं। नट लोग जितना हनुमान को मानते हैं, उतना ही देवी को भी मानते हैं। देवी शक्ति है और ये नाना करतब उस शक्ति के बल पर ही करते हैं। ये अपने अस्थाई आवासों के साथ घूमते हैं जिसे डेरा कहते हैं, जहां जाते हैं वहां लगा लेते हैं।

राजस्थान में दो तरह के नट होते हैं, एक राजस्थानी और दूसरे गुजराती। दोनों में भेद है। राजस्थानी नटों की औरतें खेल-तमाशा करना सीखती हैं तथा नटों के साथ रहकर उनका हाथ बंटाती हैं जबकि गुजराती नट अपनी औरतों को अपनी कला नहीं सिखाते। वे अपने घरों में रहकर घर का काम करती हैं, बच्चे पालती हैं। इन दोनों प्रकार के नटों को क्रमशः नाम 'कबूतरिया' और 'डोगला' भी कहा जाता है। कबूतरिया नटों की औरतें सूली पर घूमती, लावों (रस्सों) पर चलती व कला दिखाती हैं, किन्तु डोगला नटों की औरतें ये काम नहीं करतीं। पुराने समय में कुछ नट 'राजनट' भी कहलाते थे जो राजा-महाराजाओं, उनके सामन्तों, जागीरदारों, कामदारों आदि को अपनी कलाएं दिखाते थे और उदरपूर्ति करते थे। जो नट औरतों से काम नहीं करवाते, वे एक कहावत कहते हैं– *सगली बगली कंजरी, धोबण नायण जात। नारी को कमायो नर खावै, जींको ऐलो जमारो जात।।*

सगली, बगली, कंजर, धोबी और नाई जाति की स्त्रियां काम करके कमाती हैं, जो पुरुष नारी का कमाया खाता है उसका जीवन व्यर्थ जाता है। नट अनेक प्रकार के करतब करते हैं जिनमें से रस्सी पर चलना प्रायः इनका मुख्य करतब है। सर्वप्रथम हम इनके नाना करतबों का सूचीकरण कर लेते हैं–

(1) लम्बी बल्ली गाड़कर उस पर लगी लोहे की सूली की नोंक को नाभि में लगाकर हाथ-पैर फैलाकर चक्कर खाना। यह करतब अत्यंत कुशलता और वर्षों का अभ्यास मांगता है। यदि नट या नटी (नटणी) जरा भी चूक जाए तो सूली की नोंक पेट को फाड़कर पीठ में से निकल जाए। मैंने बचपन में मेरे पैतृक शहर में एक कजोड़ धोबी को खूब देखा जो कपड़े सीने की सूई को एक गाल में घुसाकर दूसरे गाल से, मुंह से होकर निकाल देता था। न गाल पर निशान, न रक्त और न दर्द। यह उसकी रुचि मात्र थी। पैसा इस कला से नहीं कमाता था। चौराहों पर खड़े होकर नहीं दिखाता था। कभी-कभार लहर में होता व बड़े-बूढ़े आग्रह करते तो अपना करतब दिखा देता।

(2) जिह्वा पर कपड़े की बनी एक गोटी को रखकर उसके ऊपर छह-छह तलवारों को खड़ी कर साधना, तलवारों को गिरने नहीं देना। यह शरीर व जिह्वा को साधने की कला है।

(3) जिह्वा के अग्रभाग पर तीन-तीन तलवारों को रखकर चलना। इस कला में जिह्वा के साथ-साथ शरीर को साधने की कला देखने लायक होती है।

(4) जिह्वा पर एक पतली-सी लोहे की शलाका को रखकर जिह्वा को फिरा-फिराकर उसमें मोतियों को पिरोना, हाथ का कोई सहारा नहीं लेना।

(5) पढ़ाई के दौरान एक बार एक महात्मा हमारे विद्यालय में आये थे। उन्होंने दो करतब विशेष रूप से दिखाए। पूछने पर बताया कि वे पूर्वाश्रम में नट परिवार में जन्मे थे। अतः उन्हें करतब करना माँ की कोख में ही आ गया। फिर वे किसी योग-साधक साधु के शिष्य हो गये और योग-साधना करके उन्होंने अनेक शक्तियां प्राप्त कर लीं। एक करतब था– वे जमीन पर चित्त लेट गये। छाती पर पांच-सात मण (लगभग 37 किलो का एक मण) की शिला रखवा ली। फिर उसको घण (मोटे हथौड़े) से तुड़वाया। शिला के दो टुकड़े हो गये। न उनके चोट आई, न श्वास रुका और न उनको किसी प्रकार की कोई परेशानी हुई। तत्पश्चात् उन्होंने लगभग 40 गज दूरी पर एक पुतला रखवाया। स्वयं की आंखों पर दुहरे-तिहरे कपड़े की पट्टी बंधवाई। जहां पुतला रखा था, वहां से आवाज करवाई और 40 गज दूरी से शब्दभेदी बाण चलाया जो ठीक उस पुतले की छाती को बींधता हुआ निकल गया। फिर उन्होंने पृथ्वीराज चौहान का किस्सा सुनाया जिसके अनुसार अंधा कर दिये गये पृथ्वीराज ने चंदबरदाई भाट से स्वयं और सुलतान गौरी के बीच की दूरी सुनकर सुलतान के बाण मार दिया– *चार बांस चौबीस गज, अंगुल अष्ट प्रमान। ता ऊपर सुतलान है, मत चूकै चौहान।।*

(6) छाती पर तलवार बांधकर उसको घुमाने का करतब दिखाना। मध्यकाल में कई योद्धा इतने पारंगत होते थे कि उनकी तलवारों से शत्रुदल कटता तो दिखता किन्तु तलवार चलती नहीं दिखती। राजस्थान के इतिहास में ऐसे अनेक रोमांचक किस्से हैं जिनको सुनकर कायरों के भी हाथ फड़कने लगते। बैगू ठिकाने में एक ओसवाल मोदी का काम करते थे और दोनों हाथों से तौलते थे। किसी ठाकुर ने ताना मार दिया, 'सेठाँ! रणक्षेत्र में दोनों हाथों से तलवार चलाओ तो जानें'। मौका पड़ने पर उक्त मोदी बनिये ने रणक्षेत्र में दोनों हाथों से तलवारें चलाईं।

(7) दो बांस गाड़कर उनके बीच दोनों सिरों पर मोटा रस्सा बांध दिया जाता है और नटनी उस रस्सी पर हाथ में थाली लेकर, छतरी लेकर, तलवार लेकर एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाकर उल्टे पांव वापस आती है। प्रायः यह मन को लक्ष्य पर केंद्रित करने की क्रिया है। मन का तादात्म्य जितना लक्ष्य से होता है, उतना ही साधक को लक्ष्य पाने में सफलता मिलती है। स्वामी रामचरण ने अपनी वाणी में मन को भगवन्नाम-जप में वैसे ही लगाने का परामर्श दिया है जैसे नटनी बरत (रस्सी) पर चलते समय एकाग्र मन होकर एक छोर से दूसरे छोर पर पैरों को जमाते हुए चलती है और दूसरी ओर पहुंच जाती है।

(8) नट लोग चलते हुए हाथी पर से चलते हुए दूसरे हाथी पर या एक ऊंट से दूसरे ऊंट पर सफलतापूर्वक छलांग लगा देते हैं, गिरते नहीं। शरीर में लचीलापन, लक्ष्य का संधान, हाथी या ऊंट की चाल के सही पूर्वानुमान व इन पशुओं की प्रकृति की सही पहचान से ये लोग यह करतब दिखाते हैं।

(9) सर्कसों में प्रायः हम देखते हैं कि कुछ कलाकार 15-15 फीट ऊंचे होते हैं और वे सफलतापूर्वक चलते हैं। यह नटों की ही कलाबाजी है। वे पैरों में बांस बांध लेते हैं, नीचे लम्बा पतलून पहनते हैं और सफलतापूर्वक चलते हैं।

नटों के पास मंत्र-तंत्र या कोई जादू नहीं होता। ये अपनी कला के प्रति समर्पण-भाव रखते हैं व अपनी कलाओं का अनवरत अभ्यास करते रहना ही इनकी सफलता का मूलमंत्र है। शरीर को इकहरा रखते हैं, चर्बी बढ़ने नहीं देते, लचीला रखते हैं। कहते हैं, इसके लिए इन्हें तिल्ली का तेल सबसे अधिक फायदा देता है। ये बचपन से ही तिल्ली के तैल को भोजनादि के साथ खाने या पीने का अभ्यास करते हैं। नटनियां जापे में घी न खाकर तैल ही खाती हैं जिससे इनका शरीर बलिष्ठ व लचीला बना रहता है। मेरे एक जानकार ने मुझे एक बार बताया कि उनके नाना राजमिस्त्री थे। उनको गर्मी, सर्दी, बरसात सभी ऋतुओं में खुले में काम करना पड़ता। अतः वे सर्दियों में प्रायः प्रतिदिन दोनों समय के भोजन, खिचड़ी, दलिया आदि में दो छटांक तिल्ली तैल खा लिया करते थे। ऐसा करने से वे मरते दम तक काम करते रहे, कभी थके नहीं, झुके नहीं।

(10) कई-एक नट इतने पारंगत होते हैं कि वे गधे को गठरी में बांधकर उस गठरी को माथे पर रखकर दो बांसों पर बंधी रस्सी पर चलते हैं। हम आप जानते हैं, गधा निश्चल नहीं रहता। अपने बचाव में पिछले पैर फेंकता है। फिर भी ये नट लोग उसको गठरी में बांध सिर पर रख रस्सी पर अधर-पधर चलते हैं किन्तु गिरते नहीं हैं।

ये प्रत्येक खेल या तमाशे में ढोलक अवश्य ही अपने साथ रखते हैं। 'ढोलक पर थाप मारना व मुंह से छंद बोलना' इनकी कला को जीवंत, सरस, आकर्षक व मनमोहक बनाते हैं। इन दोनों को सीखना ये अनिवार्य मानते हैं। ढोलक बजाने व छंद बोलने का काम नट करता है और नटनी करतब दिखाती है।

(11) पुराने समय में ये नट लोग विवाह शादियों में माथे पर सात-सात बर्तन रखकर नाचते थे, बर्तन गिरते नहीं थे। कभी-कभी रोशनी के सात-सात हण्डे भी लेकर चलते थे, हाथों से पकड़ते नहीं थे।

(12) नट लोग रस्सी पर चढ़कर और भी अनेक करतब करते हैं जैसे– रस्सी पर चक्कर खाते हैं, हवा खोरी करते हैं, हाथों में थाली को लेकर चलते हैं, कभी-कभी थाली को घुमाते हुए भी चलते हैं, रस्सी पर चलते समय दूसरे व्यक्ति द्वारा फेंककर पकड़ाई गई थाली को पकड़ लेते हैं, पट्टाबाजी करते हैं, साईकिल का चक्र फिराते हैं, दोनों हाथों में तलवार लेकर कभी आगे, कभी पीछे की ओर चलते हैं, रस्सी पर बैठकर, टांगों को चलाते हैं आदि-आदि।

नटों के संबंध में दो कथानक सुनने को मिलते हैं और नट लोग अपना गौरव समझकर इनको सुनाते हैं। एक किस्सा लोककला, लोकसाहित्य के बेजोड़ मर्मी विद्वान डॉ. महेन्द्र भानावतजी ने सुनाया जो इस प्रकार है- उदयपुर में सिटी पैलेस के पीछे पीछोला झील में नटनी का चबूतरा है। वह चबूतरा क्यों बना? इसका कथानक इस प्रकार सुना जाता है– नटनी का नाम सुंदर तथा नट का नाम जलालिया था। जलालिया एक बार महलों के त्रिपोलिया में इधर-उधर डोलते चंचलगर नामक हाथी पर उछल कर जा बैठ,ा देखकर महाराणा प्रसन्न हुए। इस पर महाराणा ने कहा कि यदि तू महल के सूरज गोखड़े (गवाक्ष) से जगमंदिर तक बांधी गई रस्सी पर उलटा चलकर सुरक्षित वापिस आ जाएगा तो तुझे आधा राज्य दे दूँगा। महाराणा के कहने पर सूरज-गोखड़े से जगमंदिर तक पीछोला झील के ऊपर होकर रस्सा बांधा गया और उस पर जलालिया नट उल्टी ओर चलने लगा। उसने आधी से ज्यादा दूरी तय कर ली। महाराणा के सामन्तों ने सोचा कि यदि यह नट पूरी रस्सी पार कर गया तो इसको आधा राज्य मिल जायेगा और हमको इस नट को महाराणा मानकर मुजरा करना पड़ेगा, हमारी बेइज्जती होगी। सामन्तों ने मिलकर पीछे से रस्से को काट डाला। जलालिया पीछोला झील में गिरकर मर गया। शर्त अधूरी रही। महाराणा को आधा राज्य नहीं देना पड़ा, इस पर सुन्दर नाम की उसकी पत्नी नटनी ने शाप दिया कि आगे से यहाँ आकर कोई नट खेल न दिखाए अन्यथा उसकी पत्नी को भी विधवा होना पड़ेगा। सुंदर सती हुई। राज्यकोष से उसके ऊपर चबूतरा बनाया गया। कोई-कोई इसका नाम गलकी भी बताते हैं। कहते हैं, मूलतः उस नटनी का नाम सुन्दर ही था किन्तु लोक में उसका नाम गलकी चल निकला था। कहते हैं, वह जलालिया नट महाराणा के यहाँ खेल-करतब दिखाने आया करता था। महाराणा उस पर प्रसन्न रहते थे। उसको उसकी कलाबाजी के इनाम के रूप में बंबोरा के पास चांवड्या

गाँव तथा बारह बीघा जमीन दी थीं। बारह ढोलकों में मोहरें भरकर दीं। जनाना-मरदाना दुपट्टा और सिरोपाव दिया। सोने के कंठी-कड़े दिये। छोगा-पछेवड़ी, चंपा घोड़ा और सुन्दर नाम का हाथी दिया। जलालिया सवानीखेड़ा का रहने वाला था। वैसे तो था घूमन्तु किन्तु महाराण से जागीर मिलने से यह उस गाँव का निवासी हो गया था।

मुंशी देवीप्रसादजी ने मरदुमशुमारी, राज मारवाड़, सन् 1891 ई. में एक ऐसी ही घटना जालौर के कान्हड़देव के समय में घटी हुई बताई है। वे लिखते हैं- सोनचिड़ी नाम्ना एक नटनी रस्सी पर चलने-फिरने, करतब दिखाने में अत्यन्त प्रवीण थी। कान्हड़देव ने एक लम्बी रस्सी अपने किले के एक छोर से पहाड़ी के दूसरे छोर पर बंधवा दी और कहा कि यदि यह नटनी एक बार इस रस्सी पर बिना गिरे जाकर आ जायेगी, तो इसको आधा राज्य दे दूंगा। सोनचिड़ी अपनी कला में पारंगत थी, अतः वह बिना किसी परेशानी के किले के छोर से पहाड़ी के छोर पर चली गई। जब आने लगी, तब एक नटनी को आधा राज्य मिल जाने की ईर्ष्या और उसके अधीन हो जाने की आशंका से गुपचुप राज्य के सामन्तों ने रस्सी काट डाली और नटनी गिरकर मर गई। राजा को खूब दुःख हुआ, किन्तु करते भी क्या? नटनी की याद में पहाड़ी पर एक छत्री बनवाई गई जो अब भी है। मारवाड़ में 'गुलाब का टोला' इसी नटनी की संतानों से चला है। उस समय (सन् 1891 में) गुलाब के टोले के 10-15 डेरे थे, अब अधिक हो गये होंगे।

राजस्थानी नटों का सामाजिक जीवन : नटों के जीवन में चार चीजों का खास महत्त्व है– (1) बाँस, (2) रस्सी, (3) ढोलक और (4) तेल। पहले तीन साधन इनके खेल के साधन हैं जबकि चौथा इनके शरीर का साधन है। इनके यहाँ एक कहावत प्रचलित है 'जब तक तेल, तब तक खेल' तथा 'जितना तेल, उतना खेल'। ये टोलों या समूहों में रहते हैं। इनकी जाति तो एक ही अर्थात नट जाति है किन्तु उसमें जो अलग-अलग टोले या समूह हैं वे अलग-अलग खाँप या शाखा हैं, इनका टोला ही इनकी खाँप की पहचान होती है। ये अपने टोले को छोड़कर दूसरे टोले में शादी विवाह करते हैं। केवल खास मामा के लड़के-लड़की से विवाह नहीं करते अन्यथा चचा, बुआ अन्य सभी से कर लेते हैं। लड़के-लड़की जब पाँच-छह वर्ष के होते हैं, तब से ही इनको हाथ-पैर चलाने का, कसरत करने का, शरीर को लचीला बनाये रखने का अभ्यास कराना प्रारम्भ कर देते हैं।

विवाह में दो लकड़ी गाड़कर उस पर तोरण बांधते हैं। उसी के पास एक लोहे की कीली या छड़ी गाड़कर उसके गिर्द दूल्हे-दुल्हन से फेरे कराते हैं। हथलेवा साली जोड़ती है चाहे छोटी या बड़ी हो। दूल्हा, दूल्हन के यहाँ पैदल जाता है। दूल्हे का बाप अपने टोले को व दूल्हन का बाप अपने टोले को भोजन कराते हैं। विधवा का नाता होता है। उसे जो ले जाता है, वह विधवा के ससुराल वालों को कुछ रुपये देता है ताकि उनका हक समाप्त हो जाए। यह रकम प्रायः टोले वाले तय करते हैं। ले जाने वाला दारू भी पिलाता है। यदि बड़े भाई की पत्नी छोटे भाई के नाते जाती है तो कुछ भी लेना-देना नहीं पड़ता। नाता प्रायः रात्रि में सम्पन्न होता है। मरने पर मुर्दे को करवट से गाड़ते हैं। तिया तो करते हैं किन्तु द्वादशाह वगैरह कुछ नहीं करते। जब पैसा होता है तब बिरादरी के टोलों को जिमा देते हैं। जब संतान होती है तब जच्चा को घी की जगह तैल ज्यादा खिलाते हैं। आपस के झगड़े न्यात की पंचायत में सुलझाते हैं। राज्य की ऐजेन्सीज के यहाँ, कोर्ट-कचेरियों में प्रायः नहीं जाते। आवश्यकता पड़ने पर गोद लेने का रिवाज है, केवल भाई-बान्धवों में से जो एक-दो पीढ़ी में हों। ये लोग सुअर, सेई, खरगोश, हिरण और बकरे का मांस खाते हैं किन्तु सांड का मांस नहीं खाते। नट नाचना गाना भी करते हैं। औरतें कभी-कभी लुकाछुपी (वेश्यावृत्ति) का भी सहारा लेती हैं। नट प्रायः ढोलक बजाता है तथा नटनी रस्सी पर चढ़ती है। नटनी अंदर में चूड़ीदार पायजामा पहनती है, ऊपर से घाघरा पहनती है। मर्द धोती, कमरी पहनते हैं। माथे पर पगड़ी बांधा करते थे, अब नहीं बांधते।

गुजराती नटों का सामाजिक जीवन : ये मारवाड़ी या राजस्थानी नटों से शादी- विवाह नहीं करते। इनकी औरतें बाँसों, रस्सियों पर नहीं चढ़तीं। गुजराती नट इनको यह काम सिखाते भी नहीं। पुरुष ही करतब-बाजी करते हैं। रस्सी पर चढ़ते हैं। सिर के बल खड़े होकर चलते हैं, कुर्सी-मेजों पर चढ़ते हैं। इनके यहाँ विवाह की रस्म

इनका नायक सम्पन्न करवाता है। यह भी नट ही होता है। नायक फिर नटों का काम नहीं करता। झगड़ा झंझट होने पर यही पंचायती करके झगड़े का निपटारा करता है। ये मांस भैंसे व बकरे का खाते हैं, सुअर का नहीं खाते। मुर्दों को गाड़ते हैं और मौसर अर्थात् द्वादशा पाँच दिन में ही कर देते हैं। ये हिन्दू हैं। हनुमानजी का इष्ट धारण करते हैं। अपने पूर्वज 'गुलाब नट' का नाम लेकर करतब खेलते हैं। विधवा औरत को उसका देवर अपने यहाँ रख लेता है, चाहे उसके पहले से ही पत्नी हो जबकि बड़ा भाई छोटे भाई के मरने पर उसकी विधवा को अपने घर में नहीं रख सकता। इनकी खाँपें 'बन्यादाना', 'छीपा', 'संखोद्धार', 'गागोलिया', 'तखड़ी-तूमड़ी' आदि होती हैं। ये 'गोमा सती' की सौगंध खाते हैं जो 'डीसा' में हुई थी। औरतें घाघरा, पाँव में पीतल की झांजर पहनती हैं। सोना, चांदी के गहने नहीं पहनतीं। पुरुष पायजामा पहनते हैं। बदन पर कमरी व सिर पर पगड़ी रखते हैं। गले में हरे व फिरोजी रंग की मणियों की माला पहनते हैं।

मदारी : मदारी प्रायः बलोचिस्तान के बलोच मुसलमान हैं। ये रीछ और बन्दरों के खेल दिखाकर जनता का मनोरंजन कर आजीविका चलाते हैं। आजकल सरकारी पाबन्दियों के चलते जंगली जीवों को बाँधकर रखना, सड़कों पर इनका खेल दिखाना गैर-कानूनी हो गया है; अतः ये मदारी लोग अब शहरों में तो बहुत कम खेल दिखाने आते हैं क्योंकि इनको शिकायत होने का डर रहता है किन्तु गाँवों में कभी-कभी अब भी ये लोग बन्दरों का खेल दिखलाते हैं। बन्दर ससुराल जाने को या बाजार में खरीददारी करने को लकड़ी लेकर आगे चलता है, बंदरिया पीछे चलती है। यह यात्रा का दृश्य है। पुराने जमाने में गाँवों में पुरुष आगे लाठी लेकर चलते थे, महिलाएँ पीछे चला करती थीं। इसी की अनुकृति मदारी बन्दर-बन्दरिया के खेल के माध्यम से दिखाते हैं। बन्दर-बन्दरिया के खेल में मदारी डुगडुगी बजाता जाता है और दोनों को निर्देश देता जाता है। बंदर-बन्दरिया वैसे-वैसे ही करते जाते हैं। रीछ के खेल में, चूँकि रीछ हिंसक जानवर है। अतः उसका मुँह चमड़े के पट्टे से बंधा रहता है। उसको दोनों पिछले पैरों पर खड़ा होने को कहा जाता है, चक्कर लगवाये जाते हैं, रुपये पैसे मंगवाये जाते हैं।

बाजीगर : ये भी प्रायः मुसलमान होते हैं। अनेक तरह के जादू दिखाते हैं। उदाहरणार्थ हाथ की हथेली पर तत्काल सरसों उगा देते हैं। सिक्का एक हाथ की मुट्ठी में रखते हैं, दूसरे हाथ की मुट्ठी से निकाल कर बता देते हैं। किसी की जेब का रुपया किसी और की जेब में पहुँचा देते हैं। अन्यत्र से आम मंगा देते हैं। झोली में डंडा घुमाकर कुछ का कुछ कर देते हैं। ऐसे अनेक जादू ये लोग दिखाते हैं। आजकल ऐसे जादूगर प्रायः दर्शनीय स्थलों के आसपास ज्यादा मिलते हैं जहाँ ये सैलानियों को अपनी कला दिखाकर अच्छी इनाम प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। मैंने बचपन में एक मुसलमान फकीर को चौराहे पर एक जादू दिखाते देखा था। एक तिपाई पर काले कपड़े से ढका एक यंत्र उसके पास था। वह उस काले कपड़े में जादू देखने वाले की मुंडी को घुसा देता और कहता, देखो! तुमको पूरा विश्व-ब्रह्मांड इसमें दिखेगा। वह उन्हीं लड़कों को यह जादू दिखाता जिनके दाढ़ी मूछें नहीं आई थीं। वास्तव में वह क्या था पता नहीं। वह डुगडुगी बजा रहा था। मुँह से कुछ मंत्र भी पढ़ रहा था। मेरी फिर काफी वर्षों बाद एक ऐसे व्यक्ति से भेंट हुई जिसे अनेक सावर-मंत्र याद थे और वह अनेक चमत्कार दिखा देता था। उसने बताया कि उसके पास एक ऐसी शक्ति है जिसको उसने वर्षों तक मंत्र को जप करके सिद्ध करके प्राप्त की है। वह व्यक्ति की आँख में जरा-सा काजल लगा देता, उस काजल के प्रभाव से उसको उसकी गुम हो चुकी चीजें जहाँ भी होतीं, वहाँ दिख जातीं। उसने बताया कि कई बार चोर लोग आकर उसको धमकी देते कि तुमने हमारा पता ठिकाना बता दिया, हम तुमको मारेंगे। अंततः उस व्यक्ति ने उस विद्या का प्रयोग करना बन्द कर दिया। अभी सन् 2021 के मई महीने में ही उसका इन्तकाल हुआ है।

भानमती : ये भी नटों की भाँति तरह-तरह के करतब दिखाते हैं। इनमें सऊर और तमीज नटों से ज्यादा होती है। अपने खेल आम चौराहों पर न दिखाकर सेठ-साहूकारों, धनी मानियों व राजा-जमींदारों को दिखाते हैं। अतः इनमें लियाकत, नफासत ज्यादा होती है। चूँकि इनके यजमान बड़े-बड़े लोग होते हैं, इस कारण इनसे अन्य जाति व पेशे के लोग भी आकर जुड़ जाते हैं। इस कारण इनकी जाति की शुद्धता बरकरार नहीं रहती। इस कारण इनका टोला 'भानुमति का कुनबा' कहलाता है। ये पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों कला दिखाते हैं। स्त्रियां, पुरुष से दो तिल आगे ही होती हैं, पीछे नहीं। कई बार नंगी तलवारों के हैरत अंगेज कारनामें करते हैं जिनका विवरण पूर्ववर्ती नट शीर्षक में भी आ गया है। ये प्रायः मुसलमान होते हैं। गाने में निपुण होते हैं।

बहरूपीये : जो अनेक रूप बनाते हैं, वे बहरूपीये कहलाते हैं। राजस्थान में यह पेशा प्रायः भांड जाति के लोग करते थे। जो जैसा नहीं है किन्तु वैसा अपने आपको दिखाने की कोशिश करता है, यही भांडों का काम है इसके लिए ये लोग वांछित रूप या पोशाक में ऐसा कुछ पुट देते हैं जिससे आश्चर्यमय, अद्भुत, अस्वाभाविक दिखें और दर्शकों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हों। ये भी मुखौटे लगाते थे, घोड़े का आकार कमर में बांधकर, कभी-कभी हाथी का आकार बनाकर उसको शरीर के बीच में फँसाकर उनकी जैसी चाल से चलते। दसवी-ग्यारहवीं शताब्दी में एक 'गजकंथड़' नाम का सिद्ध हुआ है जिसने गज का रूप धारण करके सिद्धि प्राप्त की और 'गजकंथड़' कहलाया।

कलन्दर : कलन्दर अपने आपको मदारी भी कहते हैं। ये भी घूमंतु टोलों (समूहों) में रहते हैं। इनकी उत्पत्ति प्रसिद्ध सूफी बू अली कलन्दर से मानी जाती है। बू अली कलन्दर का समय 1209-1324 ई. सन् माना जाता है और ये बू अली कलन्दर पानीपती के नाम से भी जाने जाते हैं। इनका इन्तकाल पानीपत में ही हुआ जहाँ इनकी मजार है जहां प्रतिवर्ष एक मेला भी आयोजित होता है। ये चिश्ती सिलसिले के सूफी थे। इनका असली नाम सरफुद्दीन था किंतु ये प्रसिद्ध हुए बू अली शाह कलन्दर के नाम से। इनके पिता सैयद मुहम्मद अबू अल हसन अच्छे विद्वान थे। अब कलन्दर एक जाति ही बन चुकी है। ये पंजाब, उत्तर प्रदेश, पाकिस्तान और नेपाल के तराई क्षेत्रों में मिलते हैं। मूलतः इनका वतन करनाल और पानीपत के जिले थे किन्तु अज्ञात कारणों से ये उत्तरप्रदेश के रुहेलखंड व अवधक्षेत्र में प्रव्रजित हो गये। रुहेलखंड वाले 'रोहिल्ला' तथा अवध वाले 'मच्छले' कहलाते हैं। इनकी भाषा अलग तरह की है जिसे कलंदरी भाषा कहते हैं। ये अपने साथ खेल दिखाने को बन्दर, भालू, रीछ वगैरह रखते हैं। हाथ में इनके डमरू रहता है जिसको बजाकर पहले मजमा जोड़ते हैं फिर डमरू बजाते हुए जानवरों से करतब करवाते हैं। जब-तक जानवरों का शिकार, उनको पकड़कर रखना आदि निषिद्ध नहीं हुआ था तब तक ये अपना यही पुश्तैनी धंधा करते रहे। अब राज्य सरकारें इनको सुविधाएँ देकर जगह-जगह बसाने का प्रयत्न कर रही हैं, ये सुन्नी मुसलमान हैं। इनका टोला ही इनकी एक खाँप या गोत्र हो जाता है। ये बुआ, चाचा की लड़कियों से भी विवाह करते हैं किन्तु मामा की लड़की से नहीं। पाकिस्तान में जीव-हिंसा व जीव-क्रूरता निषिद्ध नहीं है; अतः वहाँ ये अब भी अपना पुश्तैनी धंधा ही करके जीविकोपार्जन कर रहे हैं। वहाँ ये भालू, बंदर, कुत्ते और बकरियों का तमाशे दिखाते हैं। ये प्रायः बाजीगरी, कलाबाजी, जादूगरी, बहुरूपीया-सांग आदि में निष्णात होते हैं। कदाचित् कोई इन कलाओं को सीखने में अक्षम होता है तो वह भिक्षा-जीवी बन जाता है। ये प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते हैं। परती जमीन में अपने तम्बू गाड़ते हैं और शहर व गाँवों में जाकर खेल-तमाशे दिखाते हैं। पाकिस्तान में भालुओं को कोहिस्तानी जाति के लोग पकड़ते हैं और पेशावर तथा रावलपिण्डी के बाजार में लाकर बेचते हैं जहाँ से ये कलन्दर इनको खरीदते हैं।

■■

60/60, रजत पथ,
मानसरोवर
जयपुर (राजस्थान)-302020
मो. 9351503555

उद्योग के रूप में संस्कृति का संप्रत्यय (सहारनपुर काष्ठ शिल्प उद्योग के विशेष संदर्भ में)

ललिता मैनवाल

वर्तमान में भारतीय हस्तशिल्प उद्योग के उन्नत स्वरूप से इसके दीर्घकालीन विकास की यात्रा का स्मरण होता है। विविध हस्तशिल्प कलाओं में काष्ठ शिल्प कला का इतिहास बहुत प्राचीन है। इसकी शुरुआत व विकास मंदिरों, इमारतों, भवनों स्थापत्य, मूर्तिकला, मेहराब, नक्काशी कार्य व विभिन्न दैनिक उपयोगी वस्तुओं के रूप में प्रमाणित हुई। वर्तमान में काष्ठ शिल्प कला के रूप में उत्तर प्रदेश का सहारनपुर जिला राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जाना जाता है। गंगा-यमुना का यह दोआब क्षेत्र वास्तव में पूरे भारतीय इतिहास में नस्लीय-सांस्कृतिक विरासत और धार्मिक, कलात्मक, आंदोलनों के लिए एक पोषक पृष्ठभूमि रहा है। शिवालिक पर्वत श्रेणी की तलहटी में बसे इस क्षेत्र में परंपरागत रूप से काष्ठ कार्य निरंतरता में रहा और वहीं कश्मीर, मुल्तान से प्रवासित कुछ काष्ठ कारीगरों, व्यापारियों के मध्यकाल, ब्रिटिशकाल, भारत विभाजन के दौरान यहाँ प्रवासित होने से यह मिश्रित संस्कृति का प्रमुख केंद्र बन गया इसीलिए उद्योग के रूप में संस्कृति का संप्रत्यय सहारनपुर की ऐतिहासिकता सामाजिक परिवर्तन, काष्ठ शिल्प के विकास क्रम को स्पष्ट करता है। वर्तमान परिदृश्य में उद्योगों के साथ काष्ठ शिल्प उद्योग संस्कृति का स्वरूप सहारनपुर के काष्ठ शिल्प स्थलों मंडी समिति रोड़, खाताखेड़ी, चिलकाना रोड़, लक्कड़ बाजार, रायवाला, बासठ फुटा रोड़ आदि तथा इससे जुड़े गांवों में घरों में कार्यरत हिन्दू-मुस्लिम महिलाएँ, लड़कियाँ, वृद्ध, पुरुष-महिला, बाल कारीगरों के संदर्भ में फलीभूत हो रहा है जो काष्ठ शिल्प कला संस्कृति के पहचान को विलक्षणता प्रदान करता है। इसीलिए उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा भी सहारनपुर को काष्ठ नगरी या काष्ठ शिल्प नगरी की संज्ञा दी गयी है, जिससे सहारनपुर की संस्कृति व काष्ठ उद्योग की छवि उभरकर आती है। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक रंगों की झलक इसके कला-शिल्प, इमारत, महल निर्माण कार्य के साक्ष्य, साहित्य में व शासक वर्ग एवं सामान्य लोगों द्वारा प्रयोग की गयी विभिन्न वस्तुओं से प्राप्त होती है। 19वीं सदी से ही भारत में बम्बई, अहमदाबाद, मद्रास, कलकत्ता, कैराना, मैसूर, त्रावणकोर, मुरादाबाद, रुहेलखंड मुख्यतः फर्नीचर में व इनके अतिरिक्त उत्तर-पश्चिमी प्रांत में बरेली, सहारनपुर काष्ठ शिल्प नक्काशी में प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं (Birdwood 1884)।

पुराणों के अनुसार सहारनपुर व आसपास के क्षेत्र पर शासन करने वाले सौर वंश के राजा सगर थे जिनके एक वंशज कुरु के नाम पर यहां के वनाच्छादित क्षेत्र को कुरु जंगल व कृषि क्षेत्र को कुरुक्षेत्र कहा जाने लगा (Census, 2011)। फिर यह मुगल सत्ता का एक प्रमुख केंद्र रहा। ब्रिटिश काल में संयुक्त प्रान्त के एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक केंद्र रहा सहारनपुर में पुराने किले, मंदिर, हवेली, घर, मस्जिदें, विशाल दरवाजे देखे जा सकते हैं। सहारनपुर की भौगोलिक अनुकूलता, वन संपदा व व्यापारी, कारीगर इसके प्रमुख स्रोत हैं जो यहाँ की काष्ठ केन्द्र की छवि को पूर्ण करते हैं। काष्ठ शिल्प कला के बिना सहारनपुर का क्षेत्रीय आर्थिक, सामाजिक-सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक इतिहास पूर्ण नहीं हो सकता (Sinha & MKS, 1998)। हिन्दू पौराणिक कथाओं के अनुसार कारीगरों की पहचान 'विश्वकर्मा' के रूप में की जाती है। महाभारत में इनका कला के अमर व महान देवता के रूप में उच्चारण हुआ है। (Vishwakarma-Lord of Architecture, 2014)। मुगलकाल के पतन से बाह्य आक्रमणों व शासन के विकेन्द्रीकृत स्वरूप के कारण यहां संक्रमण का काल रहा। 18वीं सदी की समाप्ति के साथ ही दक्षिण एशियाई देश परिवर्तन के आनुभविक दौर से गुजर रहे थे, जो उत्पादन के स्थानांतरित स्वरूप और क्षेत्रीय उपभोग के संदर्भ में थे (Roy T. 2000)। काष्ठ शिल्प कला इस सदी के उत्पादन स्थानांतरण, क्षेत्रीय उपभोग का उदाहरण पुष्ट करती है।

इतिहासकारों में विवाद है कि भारत और यूरोप के बीच आर्थिक संपर्क ने यूरोप के औद्योगीकरण में भारतीय उद्योग पर रचनात्मक प्रभाव डाला जिससे उपनिवेशों में उद्योगों के भविष्य का मार्ग प्रशस्त हुआ। वहीं दूसरा पक्ष है कि ब्रिटेन में औद्योगीकरण का अर्थ उसके उपनिवेशों के लिए वि-औद्योगिकरण था (Roy, T., 1999)। औपनिवेशिक शासन के दौरान वनस्पति व खनिज संसाधनों पर खोज, शोध अध्ययन को संस्थागत रूप दिया गया। ब्रिटेन हेतु निर्यात वस्तुओं में रेशम, कपास, नील, मसाले, इमारती लकड़ी इत्यादि प्रमुख थी। औपनिवेशिक नीति के प्रभाव में लघु कुटीर उद्योग नकारात्मक रूप से प्रभावित हुए। 1901 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार बहुत से भारतीय कारीगर बेरोजगार हो गए थे (Qureshi 1990)। लेकिन कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि पारंपरिक उद्योग के पूर्ण विनाश का परिप्रेक्ष्य भ्रामक है क्योंकि वैश्वीकरण ने केवल उन कारीगरों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया, जो यंत्रीकृत वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं कर पाए (Roy, T., 2007)। इस संदर्भ में कमिंक्स के सर्वेक्षण से यह विचार आया कि 1905 ई. का स्वदेशी आंदोलन अनेक देशी हस्तकलाओं के लिए वरदान बनकर आया (सरकार, 1983)। देश की सभी कलाओं के साथ काष्ठ शिल्प भी प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुआ तथा सहारनपुर काष्ठकला के अपने स्थानीय उद्योग में विशेष क्षेत्र रहा। गंगा-यमुना का यह दोआब क्षेत्र 18वीं सदी तक एक घना जंगल था, जो काष्ठ शिल्प विकास से एक औद्योगिक आकर्षण केन्द्र में बदल गया। काष्ठ शिल्प के आकर्षक संदर्भ में यहाँ आए कई जाति-धर्मों के कारीगर, व्यापारी प्रवास का यह चरण दबावपूर्ण नहीं बल्कि प्रवास सिद्धान्त के 'पुल' व 'पुश' दोनों कारकों में सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित था (Todaro, 1969)। परिणामस्वरूप सहारनपुर काष्ठ शिल्प कारीगर के लिए विभाजन के समय आए लोगों के निवास व व्यवसाय (काष्ठशिल्प विकल्प) के लिए शरणस्थली बन गया। यहाँ का प्रदर्शनी मैदान जो शरणार्थियों की सुविधा, आवास के लिए उपयोग किया गया था, कालांतर में एक आधुनिक, पंजाबी सांस्कृतिक नगर के रूप में विकसित हुआ (Inception Report of U.P., Saharanpur 2017)। 1864 ई. में सहारनपुर को दिल्ली, देहरादून, पंजाब, हरिद्वार से जोड़ते हुए रेलवे लाईन बनायी गयी व 1906 ई. में एफ.आर.आई. (फोरेस्ट रिसर्च इन्सटीट्यूट, देहरादून), बोटेनिकल गार्डन (सहारनपुर) की स्थापना से सहारनपुर का विशाल मैदान, उत्तरी पर्वत श्रेणी, व्यापारिक वस्तुओं के लिए सह-संग्रह व्यापारिक केंद्र के रूप में विकसित हुआ (Handa & Jain, 2000)। यही आधारभूत कारण व स्वरूप वर्तमान में काष्ठ नगरी की औद्योगिक संस्कृति के रूप में विश्व स्तर पर फलीभूत हो रहा है।

विभिन्न जातियों व देशवासियों के सम्मिलन तथा भारतीय दर्शन, सरकार की नीति के कारण एवं देशों के मूल निवासियों के सामाजिक-सांस्कृतिक उदारीकरण के फलस्वरूप भारतीय महासागर में एक बृहत्तर भारत की स्थापना हुई (मुखर्जी, 1959)। जहाँ विभिन्न जाति, धर्मों, भाषा के लोग एकता में अनेकता की परिभाषा को सिद्ध करते हैं। समानांतर रूप से, सहारनपुर में सामाजिक-सांस्कृतिक उदारीकरण के वातावरण ने यहाँ मिश्रित

संस्कृति का निर्माण किया। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में, **लकड़ी की नक्काशी की कला का प्रारंभ फारसी शिल्पकारों द्वारा कश्मीर में** किया गया था। बलूचिस्तान के जंगलों में शीशम की लकड़ी की कमी के कारण शिल्पकारों ने अपना घर परसिया (ईरान) को कश्मीर आने के लिए छोड़ दिया था क्योंकि वहाँ चारकोल निर्माण के लिए पेड़ काट दिए गए थे, जिससे शीशम की कमी हो गयी थी। कश्मीर में उन अप्रवासी कारीगरों ने शीशम की लकड़ी के विकल्प के रूप में अखरोट की लकड़ी पर नक्काशी करना प्रारम्भ किया, इसलिए आज कश्मीर अखरोट की लकड़ी पर नक्काशी के लिए जाना जाता है। राजनीतिक अशांति के कारण चूंकि मुल्तान में लकड़ी पर नक्काशी के पैतृक व्यवसाय हेतु अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं मिली, इसलिए शिल्पकारों में मुल्तान से बाहर जाने का विचार किया। उस समय सहारनपुर ने जैन कुलीन, व्यापारियों के संरक्षण में अपने सम्बन्धित कौशल को आगे बढ़ाने के लिए शिल्पकारों हेतु एक उचित स्थान के रूप में ख्याति अर्जित की थी। ऐसा अनुमान है कि इन पेशेवर काष्ठ कारीगरों के आगमन के साथ पत्थर पर नक्काशी का कार्य प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुआ क्योंकि यहाँ लोगों की प्राथमिकता पत्थर से लकड़ी में स्थानांतरित होने वाले सजावटी कार्यों में हो गयी थी। इसका साक्ष्य यह है कि समकालीन हवेलियों में दो हवेलियों के अतिरिक्त किसी भी हवेली में पत्थर का प्रयोग नगण्य दिखायी दिया। यह वही परम्परा थी जो कालांतर में काष्ठ शिल्प कला के रूप में विकसित हुई। हस्तशिल्प के साथ मुस्लिम व धनी जैन परिवारों के बीच एक साथ रहने से सांस्कृतिक मेल व शिष्टाचार में सकारात्मक परिवर्तन हुए (Handa & Jain, 2000)। आज सहारनपुर काष्ठ शिल्प नक्काशी हस्तशिल्प उद्योग के रूप में उत्कृष्ट कार्य कर रहा है।

यूनेस्को, यू.एन.सी.टी.ए.डी., डब्ल्यू.टी.ओ. द्वारा अक्टूबर, 1997 में हुई एक संगोष्ठी में हस्तशिल्प की यह परिभाषा स्वीकार की गयी– 'हस्तशिल्प कारीगर द्वारा उत्पादित वे उत्पाद हैं, जो पूरी तरह हाथ या हाथ से बने साधारण उपकरणों, यांत्रिक साधनों की मदद से एक परिष्कृत रूप में निर्मित किए जाते हैं व कारीगर की विशेषता-उपयोगी, सौंदर्यवादी, कलात्मक, सांस्कृतिक रूप से संलग्न, पारम्परिक धार्मिक, सामाजिक रूप से प्रतीकात्मक होती है (Development Report of U.P., 2001)। **हस्तशिल्प उद्योग के साथ संस्कृति, घनिष्ट रूप से कृषि, सामाजिक, मानसिक तथ्यों की भी उपज है। एडवर्ड टेलर के अनुसार- 'संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा आदि व अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश होता है, जिन्हें मनुष्य समाज की सदस्यता की स्थिति में सीखता है।'** (Taylor, 1871)। सहारनपुर हस्तशिल्प काष्ठकला के इस वातावरण ने कालांतर में उद्योग, संस्कृति के तत्वों को पल्लवित करते हुए उद्योग के रूप में सांस्कृतिक उद्योग की अवधारणा स्पष्ट की। 'सांस्कृतिक उद्योग' की अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम 1940 ई. के दशक में थियोडोर, डब्ल्यू, एडोरनों (फ्रेंकफर्ट स्कूल के सदस्य व नाजी जर्मनी विद्वान) द्वारा किया गया। एडोर्नो (1903-1969) और सह-लेखक मैक्स होर्खाइमर (1895-1973) ने 1944 में प्रकाशित 'डाइलैक्टिक ऑफ एनलाइटमैन्ट' पुस्तक के अध्याय 'द कल्चर इंडस्ट्री : एनलाइटमैन्ट एज मास डिसिप्शन' में एडोनो ने 'मास कल्चर' अर्थात 'जन संस्कृति' को 'सांस्कृतिक उद्योग' के रूप में व्यक्त किया कि सांस्कृतिक उद्योग जनता के लिए उत्पन्न होता है। सांस्कृतिक या कलात्मक वस्तुओं का आधुनिकीकरण, रचनाकारों के लिए आय का साधन बनाता है। जन संस्कृति की समस्याओं, विचारधारा तथा पूंजीवाद के बीच संबंधों को उसने कुलीन व जनता में भेद और संस्कृति के व्यावसायीकरण के रूप में संबोधित किया।

संस्कृति उद्योग की व्याख्या में अन्य पक्ष 'क्रियात्मक उद्योग' का दृष्टिकोण विचारणीय है। क्रियात्मक उद्योग का प्रयोग सर्वप्रथम 1994 ई. में आस्ट्रेलिया सरकार द्वारा नई संस्कृति नीति क्रियात्मक राष्ट्र की शुरुआत में प्रयोग किया गया, जिसका ध्येय वैश्विक संस्कृति की वृद्धि में प्रोत्साहन देता था। इस प्रकार 'सांस्कृतिक उद्यम' संस्कृति और उद्योग के बीच घनिष्टता स्थापित करता है। यह पूंजीवादी समाज में सांस्कृतिक उत्पादन की व्याख्या करता है कि कैसे तकनीकी, नवाचारों ने कलात्मक अभ्यास को बदल दिया है। संस्कृति को पुनः प्रकाशमय करना 19वीं सदी का

विशेष पक्ष रहा जो समाज की प्रत्येक धारा में स्पष्ट हुआ। वास्तव में उद्योग की संस्कृति को विख्यात संस्कृति का ही एक भाग कहा जा सकता है क्योंकि विभिन्न इकाइयां अपनी विशिष्टता के लिए वैश्विक स्तर पर जानी जाती है। इस विस्तार के कारण ही **1990 के दशक से 'रचनात्मक उद्योग संस्कृति' का युग माना जाता है।** औद्योगिक वातावरण में इस प्रकार संस्कृति ने औद्योगिक रूप धारण कर लिया है (Moore, 2014)। वर्तमान में उद्योग संस्कृति, स्थानीय आधार पर विस्तारित होता उपागम है। ये वे गतिविधियां है जिनका प्राथमिक आर्थिक मूल्य उनके सांस्कृतिक मूल्य से प्राप्त होता है। शहरों के कुछ उद्योगों को सांस्कृतिक क्षेत्र की श्रेणी में शामिल किया जा सकता है। सांस्कृतिक उद्योग को प्रदर्शन क्रांति के रूप में परिभाषित किया गया। इसमें मूल्य पूंजी, कच्चे माल के साथ लोगों की सांवेदिक भावनाओं का निवेश भी शामिल होता है जो क्षेत्रीय संवेदनाओं को व्यक्त करता है। (Justin, 2000)। **उद्योग के अतिरिक्त प्रवास व संस्कृति** सम्बन्धी कई अन्य पहलू भी महत्वपूर्ण हैं। प्रवास मानव जीवन की शुरुआती गतिशील प्रक्रियाओं में से एक रहा है। कई परिवर्तनों के कारण जब लोग नए शहरों में एक साथ एक वातावरण में निवास करते हैं, तब परिणामस्वरूप शहरों में नई 'महानगरीय संस्कृति' विकसित होती है इसलिए ऐसे शहरों को 'मैल्टिंग पोट ऑफ कल्चर' के रूप में देखा जाता है। भूमंडलीकरण व आर्थिक विकास के दौर में प्रवास की गति को और तीव्र पाया गया (Sali & Shanta 2015)। महानगरों में विकसित होती संस्कृति के क्रम में सहारनपुर का स्वरूप मिश्रित जाति धर्मों का है। जो यहाँ आकर बसे और विभिन्न व्यवसायों में संलग्न हो गए। इन्होंने न केवल सहारनपुर के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को प्रभावित किया बल्कि यहां के औद्योगिक, शिल्पकला, अन्य लघु उद्योगों, व्यवसायों को समृद्ध बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत में शिल्प उत्पादन कई स्तर पर जाति से जुड़ा है, लेकिन वास्तविकता में शिल्प उत्पादन समुदाय बहुत कम अपवादों के साथ सामाजिक, आर्थिक रूप से निचले स्तर पर क्रियाशील है (Maureen, Liebl & Roy T, 2003)। इस प्रकार ये अवधारणाएं सहारनपुर के साथ उन सभी केन्द्रों पर लागू होती है जो अपने उत्पादन विशेष के लिए जाने जाते हैं।

सहारनपुर की हवेलियां काष्ठ शिल्प कला के प्रमाणिक उदाहरण हैं। **मुगल काल में हवेलियों में यह परिवर्तन जटिल जाली कार्यों, देवताओं के चित्रों व नक्काशी का प्रतिस्थापन था।** दरवाजे फ्रेम का डिजाइन इस रूप में प्रभावित हुआ कि परदे का पालन हिन्दू-मुस्लिम महिलाओं के लिए भय मनोविकार व असुरक्षा का प्रकटीकरण था। इस प्रकार जाली, नक्काशी, हवेली स्थापत्य में परदें की विशेषता बन गयी। शिल्पकला के परिवर्तन ने सहारनपुर के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष को उजागर किया (Handa & Jain, 2000)। भारत के इतिहास और क्षेत्रीय ऐतिहासिक-संस्कृति में सहारनपुर का एक प्रमुख स्थान रहा है। इसने हस्तकला, शिल्प संस्कृति, ऐतिहासिक घटनाओं में राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक नवीन चेतना व प्रतिष्ठित छवि का संचार किया। रेलवे के विकास ने जातिवाद, रंग, नस्ल, भेदभाव को कम कर एकता की परिभाषा को 'सर्वधर्म समभाव' के रूप में पुष्ट किया है।

सहारनपुर की काष्ठ शिल्प कला केवल एक घटना नहीं मानी जा सकती बल्कि यह एक व्यापक कला आंदोलन का हिस्सा थी जिसने इस्लामी कला के मिश्रण के साथ स्वदेशी कला पक्षों के विषयों को विस्तारित किया। काष्ठ नक्काशी का एक सामाजिक पक्ष यह है कि वर्तमान में प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत जब संयुक्त परिवार प्रणाली छोटी इकाइयों में विभाजित हुई तब इन हवेलियों को छोटे भागों में विभाजित किया गया इसलिए हवेलियों के आंतरिक व बाह्य संरचनात्मक भाग की उपेक्षा से ये क्रमिक क्षय से ग्रस्त हो गयी। कुछ निवासियों ने अपने घरों को आधुनिक बनाने के लिए इन पारम्परिक काष्ठ पत्थर की सजावटों को स्वतः हटा दिया। कुछ घरों, इमारतों में नक्काशीदार द्वार, खिड़की, छज्जे आज भी देखे जा सकते हैं जिनके संरक्षण की तत्काल आवश्यकता है (Handa & Jain, 2000)।

भारतीय मध्यकाल के बारे में कहा गया कि समग्र संस्कृति मेल-मिलाप, सहयोग के वातावरण में उत्पन्न हुई, न कि आपसी द्वंद्व में। सहारनपुर इसका अच्छा

उदाहरण है। संयुक्त प्रान्त के महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में सहारनपुर में हिन्दू व्यापारी, जैन, मुस्लिम व्यापारी व कारीगर भी शामिल थे जिनके कारण यहाँ औद्योगिक परिवेश देखा गया। 19वीं सदी के मध्य तक काष्ठ कारीगर धनी संरक्षकों की हवेलियों और घरों के लिए संरचनात्मक तत्वों को सजाने का काम करते थे। लकड़ी श्रमिक व पारम्परिक विशेषताओं के शिल्पकार वंशानुगत शिल्प में लगे थे। इस प्रकार एक स्वतंत्र व पूर्णकालिक व्यवसाय के रूप में काष्ठ शिल्प, शिल्प गतिविधियों से प्रतिष्ठित उद्योग में परिणित हुआ (Handa & Jain, 2000)। 19वीं, 20वीं सदी के प्रारम्भ में काष्ठकला कौशल जो विस्तारित हुआ इसमें इस समय निश्चित रूप से उपकरण बनाए रखने व मरम्मत की आवश्यकता थी (Kumar, 1983)। क्योंकि सहारनपुर जो अन्य स्थानों से कारीगरों को आकर्षित करता रहा, इनके कौशल उपकरणों से ही विश्वविख्यात काष्ठ शिल्प केंद्र कहलाता है।

1906 फोले रिपोर्ट के अनुसार बंगाल की जूट मिलों में 21 प्रतिशत महिला श्रमिक कार्यरत थी जो अधिक उत्तर भारतीय क्षेत्रों से थी, इनमें मुस्लिम महिला श्रमिकों का अनुपात नगण्य था क्योंकि मुस्लिम पुरुष अपनी स्त्रियों को बाहर न भेजने में पूर्णतया प्रतिबद्ध थे (H. Bevrley, 1881)। सहारनपुर के काष्ठ शिल्प व अन्य उद्योगों में भी यही धार्मिक पक्ष है, परंतु न केवल मुस्लिम बल्कि हिन्दू महिलाएं भी घरों में रहकर श्रमिक छवि से काष्ठ शिल्प के विस्तारित रूप का निर्माण करती हैं। **काष्ठशिल्प ने** यहां आर्थिक विपन्न, विधवाएँ, अविवाहित लड़कियां, वृद्ध आदि को व्यवसाय के रूप में एक विकल्प देने के साथ महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को एक पहचान प्रदान की है। काष्ठ पूर्णतया वन संपदा, पर्यावरणीय आधारित सामग्री है। आधुनिक युग में भौतिक पर्यावरण एक गंभीर संकट के रूप में देखा जा रहा है। मानव समुदाय और संस्कृति को आकार देने के लिए पर्यावरणीय परिवर्तनों को प्रमुख कारण माना गया। इस प्रवृत्ति को 'पर्यावरणीय नियतिवाद' कहा जाता है (Maureen & Roy, 2003)। वन आधारित व पर्यावरणीय परिवर्तन के संदर्भ में काष्ठ शिल्प उद्योग प्रमुख उद्योग है जो पूर्णतया लकड़ी पर आधारित है। इस प्रकार औद्योगिक संस्कृति निर्माण के साथ काष्ठ शिल्प व पर्यावरणीय चुनौती का पक्ष भी विचारणीय हो जाता है। हस्तशिल्प कला की अवधारणा 'हस्तशिल्प कारीगरों' के रचनात्मक, कलात्मक विचारों का प्रतिनिधित्व करती है जो सहारनपुर की काष्ठ शिल्प कला के संदर्भ में सही प्रतीत होती है।

आज वैश्विक परिदृश्य में पर्यावरण आधारित 'इको फ्रेंडली' वस्तुओं की मांग के क्रम में काष्ठ वस्तुएं बहुत प्रशंसा प्राप्त कर रही हैं। सहारनपुर की ख्याति इसके इतिहास, प्रवासित कारीगरों व अनुकूल भौगोलिक संपदा का प्रतिबिंब है। परिणामतया सहारनपुर की काष्ठकला के वातावरण ने इस शहर को काष्ठ नगरी की छवि व **'उद्योग के रूप में संस्कृति'** की परिभाषा से सुशोभित किया है जिसमें क्रियात्मक संस्कृति क्रियात्मक उद्योग, जन संस्कृति उद्योग की विशेषता में यहां कार्यरत पुरुष कारीगर, महिलाएं, लडकियां, बाल मजदूरों की बड़ी संख्या संलग्न है। काष्ठ शिल्प निष्कर्षतया इसके कारीगरों के कौशल का प्रमाण है। लेकिन वर्तमान में इसके सम्मुख कई समस्याएं व चुनौतियां हैं, हवेलियां, मन्दिर, इमारतों जीर्ण-शीर्ण हो रहे हैं जिनके पुनरुद्धार की तत्काल आवश्यकता है। इस दिशा में सरकार, गैर सरकारी संगठन, कारीगरों की जागरूकता इत्यादि महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं जिससे सहारनपुर की काष्ठ शिल्पकला की सांस्कृतिक विरासत व राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय प्रासंगिकता को बनाए रखा जा सके।

संदर्भ ग्रंथ

1. Sinha, Samir. MKS, Pasha. (1998). Wood Based Handicraft Industry: Jodhpur, Rajasthan. Global Forest and Trade Network. pp.5. **2.** Census of India. (2011).U.P.District Census Handbook Saharanpur-Village and Town Directory, Directorate of Census operations, Uttar Pradesh, Lucknow. **3.** (2001). Development Report of Uttar Pradesh. Planning Commission, Govt. of India, Delhi, vol.2, chapter 4, pp.127. **4.** Birdwood, George (1884). The Industrial Art of India. London, Champman and Hall, Limited. pp.273,275,291,296. **5.** Handa, O.C. Jain, Madhu.(2000). Wood Handicraft- A study of its origin and Development in Saharanpur. New Delhi, Indus publishing company. pp. 52, 47-51,45,25. **6.** Moore, Leva.(2014). Cultural and creative Industries concept- A historical perspective, Procedia- social and Behavioral Science 110, Elsevier. pp.739-741, 742, 744, 745. **7.** Justin, O. connor.(2000). The Defination of Cultural Industries. The European Journal of Art Education, 2(3). pp.15-27. **8.** (Oct.,2017) Inception Report of Capacity Building for urban Development, Municipal tax and fee improvement- Improvement in Poverty tax collections of urban local bodies of Uttar Pradesh. Environment Studies, Lucknow, Saharanpur Nagar Nigam, pp.37. **9.** Kumar, Dharma.1983(2004). The cambridge Economic History of India, 1757-2003. Vol.2, London, New Delhi, Orient Longman Private Ltd.pp.674. **10.** Roy,Tirthankar.(2000). The Economic History of India.(1857-1947). oxford oxford university press. pp.44. **11.** Roy, Tirthankar. (1999). Traditional Industries in the Economy of Colonial India London, Cambridge University Press. pp.8. **12.** Vishwakarma-Lord of Architecture. (2014, December 15), Retrieved from- http://hinduism.about.com./od/goddesses/p/vis hwa karma.html. **13.** Qureshi, M.A.(1990), Social Linkages of Artisans with Technology: upgradation of village pettery craft.Economic and political weekly.25(13).pp.683. **14.** Todaro.M.P.(1969). A Model of Labour Migration and urban unemployment in less Developed countries. The American Economic Review 59. pp.15. **15.** Sali, Raj Kumar Sangappa & Stige, Shanta, B.A.(2015). Causes and Consequences of Migration in India: A sociological perspective. Golden Research Thoughts. Vol.4. Issue.7.pp.2. **16.** Maureen, Liebl. Roy. T. (2003). Handmade in India: Preliminary Analysis of Craft Producers and Craft Production. Economic and Political Weekly, 38 (51/52). pp.56., 31. **17.** H.Bevrley. (1881). Report of census of the town and suburbs of calcutta. Calcutta.pp. 44. **18.** मुखर्जी, राधाकमल (1959) भारत की संस्कृति और कला दिल्ली-6, राजपाल एण्ड सन्जू पृ.198। **19.** प्रश्नावली व साक्षात्कार द्वारा एकत्रित जानकारी के आधार पर। **20.** Roy, Tirhankar. (2007). Out of Tradition: Master Artisans and Economics change in colonial India. The Journal of Asian studies. vol.66, No.4,pp.963. **21.** Tylor, Edward B.1871 (1958). Primitive Culture: Researches into the Development of Mythology, Philosophy, Religion, Art and custom. Vol.1. origins of culture, Vol.2, Religion in Primitive Culture.Glocuster Mass. Smith. **22.** सरकार, सुमित 1983 (2007) आधुनिक भारत 1885-1947 नई दिल्ली, मैकमिलन प्रकाशन पृ.-48।

■■

द्वारा- श्री बलेश्वर
ग्राम-ताजपुर, पो.- नागल, जिला- सहारनपुर (उ.प्रदेश)
शोधार्थी- भारतीय संस्कृति एवं इतिहास विभाग,
वनस्थली विद्यापीठ
टोंक, राजस्थान-304022
Email- lalitamenwalup7@gmail.com
Mo. 7409326700

ईश्वर सब देखता है

एक बार लन्दन में शेक्सपियर के एक प्रसिद्ध नाटक का मंचन हो रहा था। उन दिनों संभ्रांत लोगों का नाटक देखना अच्छा नहीं माना जाता था। पुजारी, पादरियों के लिए तो यह पूर्णतः प्रतिबंधित था। लन्दन के एक प्रसिद्ध चर्च के पादरी ने लोगों के मुंह से उस नाटक की बड़ी प्रसंशा सुनी थी। नाटक देखने की उसे बड़ी प्रबल इच्छा हुई। उसने सोचा सबसे छुपकर अगर थियेटर में प्रवेश कर लिया जाय। तो किसी को पता नहीं चलेगा। इसलिए उसने थियेटर के मैनेजर को पत्र लिखा कि वह उसे पिछले दरवाजे से चुपचाप प्रवेश दिला दे। मैनेजर ने जवाब दिया, 'महोदय! मुझे खेद है कि मेरे यहाँ ऐसा कोइ दरवाजा नहीं है जो ईश्वर की नजर से छुपा हो।'

सूफी काव्य में संगीत की विविध शैलियाँ

डॉ. प्रियंका

जगत संगीतमय है। संगीत के विशाल गर्भ से ही सृष्टि का सृजन हुआ है। अनादिकाल से ही नदी-झरनों की झर-झर, पशु-पक्षियों का कलरव, पेड़-पौधों की सरसराहट, कलियों का चटकना व बारिश की छमछम में संगीत मौजूद रहा है। संगीत विद्या प्रत्येक देश व काल में प्रेम-भक्ति के लिए मान्य रही है। भक्तिकालीन निर्गुण-सगुण दोनों धाराओं के भक्त संगीत के भी उपासक थे। इस्लाम धर्म में संगीत को खुदा की इबादत में बाधा माना गया है, किन्तु सूफी साधकों ने आत्मा-परमात्मा के मिलन के लिए संगीत को परम श्रेष्ठ साधन माना। डॉ. नगेन्द्र संगीत के संदर्भ में लिखते हैं– 'इस्लाम में इसे रागात्मक वृत्तियों से गर्भित माना जाता है जिस कारण खुदा के 'जिक्र' और उसकी 'इबादत' में बाधा उपस्थित होने की आशंका बनी रहती है। फिर भी सूफियों के यहाँ संगीत प्रायः 'वर्जित नहीं रहा और इसके द्वारा सूफी मत के प्रचार-प्रसार में भी सहायता मिली।'[1]

सूफियों में एक पुरानी कहानी प्रचलित है– अल्लाह ने मिट्टी का पुतला बनाया और रुह को हुक्म दिया कि जा इसके अंदर दाखिल हो जा। हुक्म का पालन करते हुए रुह अंदर जा रही थी और परेशान होकर बार-बार बाहर आ रही थी। रुह का कहना था कि मेरे मालिक मैं अंदर जा रही हूँ तो अंधेरा ही अंधेरा दिख रहा है और मेरा दम घुट रहा है, मैं क्या करूं समझ में नहीं आ रहा है। ऐसे में अल्लाह पाक ने अपने फरिश्तों को हुक्म दिया कि एक सुर छेड़ो। जब फरिश्तों ने सुर छेड़ा तो रुह एकदम मस्ती में आ गई और इंसान के जिस्म में चली गई। इसीलिए कहते हैं कि सूफी संगीत रुह तक पहुँचता है। सूफी-गान जो अल्लाह की शान में होता है, हम्द कहलाता है।

सूफी संप्रदाय में भक्ति संगीत के लिए एक पारिभाषिक शब्द 'समा' का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है भक्ति संगीत की मण्डलियाँ। उन्हें 'महफिले-समा' भी कहा जाता है। 'समा' अर्थात् 'अपनी अवधारणाओं को बढ़ावा देने के लिए आध्यात्मिक नृत्य और संगीत।'[2] सूफी संस्कृति में जहाँ-जहाँ महफ़िल-ए-समा का जिक्र होता है, वहाँ खानकाह शब्द की ध्वनि अवश्य गूँजती है। खानकाह एक इमारत होती है जो खासकर सूफियों की गोष्ठियों जैसे ज़िक्र, सूफी संगीत, रक्स व अन्य गतिविधियों के लिए प्रयोग की जाती है। इसी इमारत में तमाम सूफी गतिविधियाँ आयोजित की जाती हैं। खानकाह को दरगाह के साथ ही बनाया जाता है। गायकों को प्रायः मुगन्नी, मुतरिब व गोयन्दा कहा जाता है। सूफियों में संगीत का इतना महत्व है कि जब दो बुजुर्ग आपस में मिलते हैं तो अतिथि सत्कार के तौर पर खाने के साथ-साथ समा की भी दावत दी जाती हैं। सूफी साधना में जिक्र का महत्व है। ईश्वर का स्मरण, गुण-कथा, कीर्तन

को जिक्र कहते हैं। जिक्र करते-करते वे अलौकिक रहस्य में इतने लीन हो जाते हैं कि उन्हें अपनी सुध-बुध ही नहीं रहती। इसे ही शायरी में बेखुदी कहा जाता है। अर्थात् अहंभाव से रहित उन्मनी अवस्था। जिक्र में खुदा व रसूल के नाम-स्मरण, चिन्तन, कीर्तन के अलावा प्रायः इस्लाम के पाँच अनिवार्य कर्तव्यों का भी वर्णन रहता है। इसमें पीरों एवं मुर्शिदों का गुणगान भी होता है। गेय रचनाओं को जिक्र-गीत कहते हैं। जिक्र-गीतों का प्रचलन सुन्नी एवं शिया दोनों में मिलता है।

सूफी कवियों ने संगीत के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम के बीच की दूरी को दूर करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। शासक वर्ग की तरफ से जो संभव नहीं हो सका वह असंभव कार्य इन सूफी भक्तों ने कर दिखाया। 'ईसवीं दसवीं शताब्दी में इस्लाम के कट्टर प्रतिबन्धों को चुनौती देने वाले सूफ़ी संत सामने आए। इस्लाम में संगीत निषिद्ध होते हुए भी सूफियों की सभाओं में संगीत को प्रमुख स्थान प्राप्त था। ये सूफ़ी संत मुस्लिम शासकों द्वारा विजित राज्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए जन-साधारण के संपर्क में आते थे और उनकी भाषा के साथ-साथ उनके संगीत से भी परिचित हो रहे थे। उन्होंने संगीत के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग भी प्रारंभ कर दिए थे। मुल्तान के शेख बहाउद्दीन जकरिया ने अनेक भारतीय रागों का मिश्रण कर नवीन राग बनाए- जैसे मालश्री और धनाश्री रागों का मिश्रण मुल्तानी धनाश्री। अलाउद्दीन खिलजी के राज्य काल के प्रसिद्ध सूफी शेख निजामुद्दीन चिश्ती ने तो संगीत का इतना प्रचार-प्रसार किया था कि कोई मुहल्ला ऐसा नहीं रह गया जिसमें सूफ़ियों की संगीत सभाएँ न होती हों और उनमें वे रोते न हों।'[3] प्रस्तुत कथन में सभाओं में सूफियों द्वारा रोने का जिक्र किया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि भारतीय संगीत की आध्यात्मिकता ने सूफियों को अंर्तमन की गहराई से प्रभावित किया। भारतीय संगीत में जो इस्लामी प्रभाव पड़ा है, उसमें इन्हीं सूफी भक्तों ने योगदान दिया। सूफी संत अमीर खुसरो का योगदान सर्वाधिक माना गया, उन्होंने गज़ल, कव्वाली, तराना आदि सांगीतिक शैलियों को भारतीय संगीत की प्रचलित शैलियों में ही कुछ परिवर्तन करके प्रस्तुत किया। सभी सूफी भक्तों ने गान द्वारा ईश्वर की इबादत की। इन्होंने संगीत के रहस्य को पहचाना व उसे अपनाकर प्रस्तुत काल में समाज को सौहार्द के मार्ग पर प्रशस्त किया। इनका लक्ष्य व्यावहारिक जीवन में एकता की स्थापना के साथ ही प्रेम पर आधारित भक्ति मार्ग का प्रचार करना था। संगीत को इस्लाम धर्म से जोड़ने के लिए सूफी संतों ने अपने तर्क प्रस्तुत करके संगीत के गायन, वादन, नृत्य तीनों रूपों को लोकप्रिय बनाया। दिनकर जी लिखते हैं– 'सौंदर्य और प्रेम के बाद सूफियों में संगीत की प्रधानता है, क्योंकि संगीत में मन को केन्द्रित करके उसे ऊपर ले जाने की शक्ति होती है। उसका उपयोग सूफी संत समाधि की सुगमता के लिए किया करते थे।'[4]

सूफी संप्रदायों के माध्यम से संगीत का वर्चस्व बढ़ा। सुहरावर्दी संप्रदाय के संगीत के विषय में जानकारी मिलती है-'सुहारवर्दी संप्रदाय के शेख बहाउद्दीन जकरिया एक महत्वपूर्ण व्यक्ति थे जो मुलतान को अपना केन्द्र बनाए हुए थे। उनके गुरुभाई हमीदुद्दीन नागोरी भी संगीत के बड़े प्रेमी थे।'[5] सूफी अल्लाह से प्रेम का अर्थ मानवता से प्रेम करना मानते थे। सूफी सत्तारी सिलसिला के तानसेन भी अनुयायी थे। 'अकबर के दरबार के लोकविख्यात संगीतकार तानसेन इस प्रणाली के अनुयायी थे।'[6] सूफी भक्तों ने भारतीय राग-रागिनी पद्धति को अपनाया। सूफी कवि नूरमुहम्मद इन्द्रावती में राग-रागनियों की चर्चा करते हुए लिखते हैं–

'भैरों गुनन सखिन सहेली, गुजरी, रामकली रंग खेली।
टोड़ी संग जान देवगिरी, बरनि न जाय सो धन शिरी।
कन्त राग भैरव तहाँ, नारि मेखी मोर।
सखी गूजरी और श्री, रामकली यकठौर।
कातिक क्वार शरदऋतु माहां, प्रथम राग भा भैरों नाहां।'[7]

चिश्ती संप्रदाय में संगीत को आवश्यक माना गया। 'चिश्ती संप्रदाय में संगीत को खूब प्रधानता दी गई है। ख्वाजा मुईनुद्दीन ने संगीत और गानों को बहुत ही आवश्यक माना है। संगीत के द्वारा साधक को भावाविष्टावस्था प्राप्त हो जाती है। संगीत की मजलिसें इस संप्रदाय में कई दिनों तक चलती रहती हैं।'[8] 'चिश्ती-संतों को संगीत के आध्यात्मिक मूल्य पर बहुत अधिक विश्वास था एवं वे संगीतज्ञों का अत्यधिक आदर करते

थे। संगीत की इन मजलिसों में वे आवेश में आकर मूर्छित तक हो जाते थे। मुईनुद्दीन के शिष्य ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी की ऐसे ही किसी आवेश की अवस्था में मृत्यु हो गई थी।'[9] सूफी भक्तकवियों ने अपने काव्य को संगीत का रूप प्रदान कर उसे सुसज्जित किया। इन्होंने संगीत की अनेक पद्धतियों को काव्य में स्थान दिया। 'सूफी कवियों ने अपने गूढ़ भाव की अभिव्यक्ति के लिए गज़ल, रुबाई तथा रेख्तों के साथ दोहा-सोरठा, चैपाई, दुवई आदि लोकप्रिय छंदो एवं पदों का प्रयोग किया है। गुजरात में 'जकड़ी' नामक एक गेयपद प्रचलित है जिसका विषय भागवत भक्ति है। इसकी उत्पत्ति के मूल में सूफियों का ज़िक्र (स्मरण करना) प्रतीत होता है, जिसके अंतर्गत सूफी साधक ज़िक्र-ए-जली (ज़ोर से अल्लाह का नाम लेना) और ज़िक्र-ए-खफ़ी (शांत भाव से परमात्मा का स्मरण करना) द्वारा परमात्मा का स्मरण करता है।'[10] अठवारा, बारहमासा, काफी, दोहरे का भी प्रयोग इन भक्तों की रचनाओं में मिलता है।

चैपाई प्राकृत और अपभ्रंश का छंद है जो लोक प्रचलित तालवृत्त के मात्रिक संस्कार के परिणामस्वरूप विकसित हुआ माना जाता है। 'अपभ्रंश के अल्लिलह छन्द को हिन्दी के चैपाई छन्द का मूल आधार या रूप माना जा सकता है।'[11] मौलाना दाउद के चंदायन में एक कड़वक के अंतर्गत पाँच पंक्तियों की चैपाई के उपरांत एक दोहे का प्रयोग किया गया है। चैपाई की सर्वरसोपयुक्तता के कारण यह छंद भक्तिकाल के प्रबंध काव्यों में विशेष रूप से लोकप्रिय रहा। दाउद के चंदायन में प्रयुक्त पाँच पंक्तियों की चैपाई के उपरांत एक दोहा–

'गयी सो खेल रैन अँधियारी। उठा सुरुज जग किरन पसारी'।।1
दिन गये घरी बिरस्पत आइ। चाँद कर आन जाइ जगाई।।2
कछु सो पात जिहँ सूँ अस भई। काइ लाग भर अँगर गई।।3
चाँद बिरस्वत कै पाँ परी। कालि सुरुज देखऊँ एक परी।।4
कै वह मोरें परें बुलाबहु। कै मैं लै पोकैं (डिंग) लावहु।।5
चाँ गुनित मैं देखी, सुरु ज मँदिर जिहँ भाठ।।6
कर महर सेंठ विनती, गोषर नोत जिबाँठ।।7।।'[12]

चौपाई का गायन सुगम होता है। यह साधारण वर्ग में भी सरलता से प्रयोग में आ जाती है। 'चंदायन की सुगेय चैपाइयों का गायन बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश और दिल्ली के आसपास अत्यंत लोकप्रिय था।'[13]

कव्वाली सूफियों की अत्यधिक प्रिय गायन शैली है। इसका गायन पीरों-फकीरों की खानकाहों, मजारों पर होता है। सूफियों की चिश्ती परम्परा की यह बहुत ही प्रिय शैली है। अजमेर के सूफी संत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने अनेक भजन, कव्वालियों का गान किया था। जिसका आगे गान सूफी भक्तों ने किया। 'ख्वाजा साहब के उर्स पर गाए जानेवाले भजनं, कव्वाली व उन्हें मधुर भक्तिका नायक मानकर रचे गीत सूफी दर्शन और भक्तित्व के अपूर्व समन्वय के प्रतीक हैं।'[14] सूफी फकीर शाह हुसैन की कव्वाली-

'मन अटकया बेपरवाह दे नाल
उह दीन दुनी दे शाह दे नाल।। रहाओ।।
काजी मुल्ला मत्ती देंदे,
खरे सयाणे राह दसेंदे,
इश्क की लगे राह दे नाल।।
नदियों पार रांझन दा ठाणा,
कीता कौल जरूरी जाणा
मित्रता करे मलाह दे नाल।।
कहे हुसैन फरीद निमाणा
दुनिया छोड़ आखिर मर जाणा
उड़क कम्म अल्लाह दे नाल।।'[15]

स्वांग गायन का समाज के साथ गहरा संबंध है। प्रत्येक व्यक्ति स्वांग की धारणा और लोकप्रियता से प्रभावित था। जायसी ने पदमावत के बादशाह-दूती खंड में स्वांग की चर्चा करते हुए लिखा है–

'पातुरी एक हुति जोग-सवांगी।
सह अखारे छुत ओहि मांगी।।
भीख लेहु जोगिन फिर मांगू।
कन्त न पाइये किए सवांगू।।'[16]

ककहरा फ़ारसी में अलिफनामा का बहुत प्रचलन रहा। इसके अंतर्गत कवियों ने संपूर्ण वर्णमाला के अक्षरों को लेकर पद्य-रचना की है। जायसी ने इसी पद्धति पर 'अखरावट' की रचना की है। सूफी भक्त कवियों ने तत्कालीन प्रचलित विषयों को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाया है। सूफी कवि जायसी द्वारा अखरावट में ककहरा प्रयोग इस प्रकार है–

'कहौं सो ज्ञान ककहरा, सब आखर महै लेखि।
पंडित पढ़ अखरावटी, टूटा जोरेहु देखि।।'[17]

बारहमासा शैली का वर्णन साहित्य में विरह के वर्णन में किया गया है। विद्वानों का मानना है कि हिन्दी साहित्य में इसका सर्वप्रथम प्रयोग बीसलदेव रासो में हुआ है। सूफी कवियों के काव्य में बारहमासा का वर्णन अधिक मिलता है। 'इन गीतियों की भाव-धारा में वियोगिनी की व्यथा के साथ परिवर्तित होते काल का रूप और उसके वियोग की प्रतीक्षा मिलकर आई है। प्रत्येक मास की प्रमुख रूपरेखा के आधार पर वह अपने प्रिय को याद कर लेती है और उसके लिए विकल हो उठती है।'[18] मृगावती में बारहमासा वर्णन-

'फ़नि सावन आयउ हरियारा। पुहुमि हेर बिरहा हम जारा।।
भादों सघन धार बरसाई। बीजु लवइ आधर होइ जाई।।
आसिन दरस कांस बन फूले। खिंडरिज बाये सारस बाले।।
कातिक सरद रैन उजियारी। ससि सीतल हौ बिरहै मारी।।
अगहन कहँ जग सीइ जनावा। हेंव आइ पै कन्त न आवा।।'[19]

हिंडोल सावन के माह में सखी सहेलियों के साथ कन्याएँ झूले झूलती हुई हिंडोल गान करती हैं। सूफी कवियों ने नायिका के विरह के स्थलों पर हिंडोल का प्रयोग किया है। संगीत में हिंडोला नाम से राग भी है। जायसी द्वारा हिंडोल प्रयोग-

'सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला।
हरियरि भूमि, कुसुंभी चोला।।
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा।
बिरह झुलाइ देइ झकझोरा।।'[20]

लावनी 'निर्गुण संतों द्वारा प्रयुक्त लावनी काव्य-रूप में प्रायः अरबी-फारसी की बहरें प्रयुक्त हुई हैं। यह ख्याल की धुन पर गाया जाने वाला अत्यंत लोकप्रिय काव्यरूप है। इसके लिए मुरब्बअ (चतुष्पदी) और मुसद्दस (षट्पदी) का प्रयोग अधिक लोकप्रिय रहा है। इसमें प्रथम दो मिसरे काफ़िया युक्त तथा अंत में दो गुरु को उत्तम माना जाता है। इसके उपरांत पुनः चार क़ाफिये युक्त मिसरों के बाद बेद समाप्त किया जाता है। बेद के मिसरों के पश्चात् दो मिसरे और रखे जाते हैं। बेद के मिसरों का क़ाफ़िया प्रथम दोनों मिसरों के क़ाफ़ियों से मिलना आवश्यक है। इस प्रकार लावनी में प्रयुक्त इन दोनों बहरों का नाम मुतक़ारिब मक़बूज असलम 16 रुकनी तथा बहर-ए-रमल है।'[21] प्रत्येक लावनी में कम से कम चार चरण होते हैं और उसमें दो पंक्तियों की एक टेक होती है। टेक की पंक्तियों में जितनी मात्राएँ होती हैं प्रायः उतनी ही मात्राएँ चार चरणों में भी होती हैं।

रेख्ता हिन्दी में रेख्तः जैसे काव्यरूप का जन्म प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी और फ़ारसी के समन्वय के कारण हुआ। काव्यरूप की दृष्टि से यह फ़ारसी-हिन्दी का मिला-जुला रूप बन गया जिसमें फ़ारसी बहरों का प्रयोग हुआ करता था। संगीत में भी इसका प्रयोग हुआ। शीरानी के अनुसार-- जहाँ खुसरो ने ईरानी और भारतीय छंदशास्त्र के समन्वय से अनेक नई चीजें तैयार की वहाँ उन्होंने रेख्तः का भी आविष्कार किया, जिसमें फ़ारसी ख्याल हिन्दी के मुताबिक हो और जिसे दोनों जबानों के सरोद एक राग और एक ताल में बँधे हों उसको रेख्तः कहते हैं। अतः रेख्तः धीरे-धीरे गीत और छंदों में प्रयुक्त होने वाली शैली बन गई। इस प्रकार एक विशेष छंद, शैली और भाषा के रूप में इसका प्रयोग पंजाब से दक्षिण तक सूफ़ी और संत कवियों द्वारा पर्याप्त मात्रा में हुआ। फरीदुद्दीन शकरगंज, अमीर खुसरो तथा अमीर हसन सिज्जी आदि के रेख्ते प्रसिद्ध हैं। अमीर खुसरो का एक रेख़्ता इस प्रकार है-

निज़ामी काबे हैवां रेख़्त अज़ हर्फ़।
हमां उमरश दरां सरमाया शुद सर्फ़।।
चुनां दर खम्सा दाद अंदेशा रा दाद।
के दर सब अशदादश बस्त बुनियाद।।
दिलम देरस्त किं सौदा बसर दाश्त।
कि गुल चीनम जे बागु कू गुजर दास्त।।[22]

गज़ल फ़ारसी में सबसे अधिक लोकप्रिय काव्यरूप माना गया है जिसमें सौंदर्य, प्रेम और नैतिकता संबंधी बड़े आकर्षक, मधुर, संगीतमय मुक्तक लिखे जाते हैं। अमीर खुसरों ने सर्वप्रथम हिन्दी और फारसी मिलाकर गज़ल का निर्माण किया जिसे अत्यंत लोकप्रियता प्राप्त हुई। संत कुतुबशाह मआनी की एक गज़ल–

'पिया बाज़ प्याला पिया जाय ना
पिया बाज़ यक तिल जिया जाय ना।

xxx

कते सब पिया बिन सबूरी करूँ
कह्या जाय अम्माँ, किया जाय ना।

xxx

न हो इश्क़ जस कूँ बड़ा कूड़ है
कहीं पास उस के बेसिया जाय ना।
कुतुबशाह न दे मुज दिवाने को पंद
दिवाने को कुछ पंद दिया जाय ना।'[23]

झूलणा के गीत लोक में प्रचलित हैं। डॉ. भोलाशंकर व्यास के मतानुसार- 'मूलतः ये सभी छंद गुजरात, राजस्थान में नृत्य के साथ गाए जाने वाले लोकगीतों की लय में निबद्ध हैं। झूलणा नाम भी इसका संकेत करता है, जो दोला नृत्य से संबद्ध जान पड़ता है।'[24] आदिकालीन जैन साहित्य में इस छंद का प्रयोग मिलता है। शेख फरीदउद्दीन जैसे सूफी संतों ने भी इसका प्रयोग किया है। परंतु मात्रा विषयक अनुबंध लक्षण के अनुरूप ठीक वैसा ही नहीं है-

'जली याद की करना हर घड़ी यक तिल हुज़ूर सों टलना नईं।
उठ बैठ में याद सों शाद रहना, गवाहदार को छोड़के चलना नईं।
पाक रख तूँ दिल कूँ गैर सती आज साईं फ़रीद का आवता है।
क़दीम क़दीमी के आवने से ला जवाल दौलत कूँ आवता है।।'[25]

बसंत ऋतु आने पर चारों ओर का वातावरण सुमधुर बन जाता है। कवियों द्वारा इस ऋतु का वर्णन प्रारंभिक समय से ही खूब होता आ रहा है। सूफी कवियों द्वारा इस ऋतु का उपयोग काव्य में एक संगीत शैली की तरह खूब किया गया है। सूफी कवि जायसी के काव्य में यह प्रयोग है-

'दैऊ दैऊ कै सो ऋतु गँवाई।
सिरी पंचमी पहुँची आई।।
भएऊ हुलास नवल ऋतु माहाँ।
खिन न सोहाइ धूप औ छाँहा।।
पदमावति सब सखी हँकारी।
जावत सिंहलदीप कै बारी।।
आजु बसंत नवल ऋतु राजा।
पंचमि होइ जगत सब साजा।।
नवल सिंगार बनस्पति कीन्हा।
सीस परासहि सेंदुर दीन्हा।।
बिगसि फूल फूले बहु बासा।
भौंर आइ लुबुधे चहुँ पासा।।
पियर पात दुख झरे निपाते।
सुख पल्लव उपने होइ राते।।'[26]

बेलि लोक से जुड़ी हुई संगीत शैली है। लोक का सबसे अधिक महत्व यही है कि वे लोक के काव्य-रूपों को ही अपने जीवन में स्वीकार करते जाते हैं। बाग में फूल-फल, पेड़-पौधों के उपरांत बेलि का भी महत्व होता है। वह भी बाग की शोभा बढ़ाने में अपना विशेष स्थान रखती है। फूलों के लिए तो अनेक गीत-संगीत की रचना हुई, किन्तु समाज में बेलि के भी गीत गाए जाने लगे। जायसी के काव्य में बेलि प्रयोग-

'पुनि फुलवारी लागि चहुँ पासा।
बिरिख बेधि चंदन भै बासा।।
बहुत फूल फूली घन बेली।
केवरा चंपा कुंद चँबेली।।
सुरँग गुलाल कदम औ कूजा।
सुगँध बकौरी गंध्रप पूजा।।
नागेसरि सदबरग नेवारी।
औ सिंगारहार फुलवारी।।'[27]

आरती का प्रयोग सूफी संतों के काव्य में मिलता है। सूफी कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम के मध्य एकता का मार्ग स्थापित करने का प्रयत्न किया, इसलिए उन्होंने दोनों धर्मों के सामान्य व्यवहार में प्रचलित शैलियों का प्रयोग किया। आरती का महत्व हिन्दू समाज में अधिक है, इसका प्रयोग कर सूफी कवियों ने दोनों के बीच एकता की भावना को सुदृढ़ किया-

'बिहँसि चंद दै माँग सेंदूरा।
आरती करै चली जहँ सूरा।।
औ गोहने सब सखीं तराई।
चितउर की रानी जहँ तांई।।'[28]

सूफी कवियों के काव्य में विभिन्न संगीत शैलियों का प्रयोग तो देखने को मिलता है, लेकिन राग-रागनियों का वर्गीकरण नहीं मिलता। 'सूफी काव्य में संगीत का समावेश भाषा और शैली के कारण सहज रूप में हुआ और बाह्य साक्ष्यों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि सूफी कवि अपनी रचनाओं को गा-गाकर सुनाते थे किन्तु किस धुन में अथवा किन राग-रागनियों में वे अपने काव्यांशों को बांधते थे इसका कोई विवरण अथवा उल्लेख नहीं मिलता।'[29] सूफी कवियों ने भले ही राग-रागनियों के आधार पर वर्गीकरण न किया हो किन्तु

उन्होंने अपने काव्य में संगीत की विविध शैलियों का प्रयोग किया है, जिसके माध्यम से उन्होंने साधारण वर्ग में प्रेम व सौहार्द की भावना को बढ़ावा दिया।

संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, प्रथम संस्करण-1973, पृ.-105। 2. भारतीय कला एवं संस्कृति, नितिन सिंघानिया, मैकग्रा हिल एजुकेशन प्राइवेट लिमिटेड, तृतीय संस्करण 2020, पृ.28। 3. संगीत, डॉ. मुकेश गर्ग, लेखः संगीत और मध्यकाल-डॉ. पूर्णिमा शर्मा, अक्टूबर 1993, पृ.-3-4। 4. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, नवीन संस्करण-2006, पृ.-254।

5. भक्ति का संदर्भ, देवीशंकर अवस्थी, वाणी प्रकाशन-नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1997, पृ.-128। 6. भारतीय कला एवं संस्कृति, नितिन सिंघानिया, मैकग्रा हिल एजुकेशन प्राइवेट लिमिटेड, तृतीय संस्करण 2020, पृ.- I.211। 7. हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, डॉ. सरला शुक्ल, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, सम्वत् 2013 वि., पृ.-296। 8. संत और सूफी साहित्य, भक्तिकाल (निर्गुण भक्ति), भाग-4, संपादक परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण द्वितीय-संवत् 2058 ई. पृ.-36। 9. भक्ति का संदर्भ, देवीशंकर अवस्थी, वाणी प्रकाशन-नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1997, पृ.-128। 10. हिन्दी कविताः इस्लामी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में (12वीं शताब्दी-14वीं शताब्दी) प्रथम खण्ड, जमीला आली जाफ़री, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1975, पृ.-199। 11. कबीर का लोकतात्त्विक चिन्तन, डॉ. सुखविन्दर कौर बाठ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2007, पृ.-124-126। 12. मौलाना दाउद दलमई, चंदायन, संपादक परमेश्वरी लाल गुप्त, प्रकाशक- हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड, दिल्ली, पृ.-163-164। 13. हिन्दी कविताः इस्लामी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में (12वीं शताब्दी-14वीं शताब्दी) प्रथम खण्ड, जमीला आली जाफ़री, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1975, पृ.-224। 14. भक्ति तत्त्व दर्शन-साहित्य-कला, संपादक, कल्याणमल लोढ़ाः जयकिशनदास सादानी, भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता, प्रथम आवृति-1995, पृ-413। 15. पंजाबी भाषा सूफियों का उत्तर भारतीय संगीत में योगदान, प्रस्तुत कर्ता-शमशाद अली, निर्देशक डॉ. विनय कुमार अग्रवाल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1990, एम.फिल., पृ.-86। 16. पदमावत, संपादक डॉ. गोविंद त्रिगुणायत, एस. चंद एण्ड कं., प्रथम संस्करण-1967, पृष्ठ-206। 17. जायसी ग्रंथावली, अखरावट, संपादक-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2012, पृ.-464। 18. डॉ. रघुवंश, प्रकृति और हिन्दी काव्य, मध्ययुग, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, 2005, पृ.-406। 19. हिन्दी के सूफी प्रबन्ध काव्य, सुलक्षणा टोप्पो, बी. के. तनेजा, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृ.-58। 20. जायसी ग्रंथावली, संपादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2012, बसंत खंड, पृ.-327। 21. हिन्दी कविताः इस्लामी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में (12वीं शताब्दी-14वीं शताब्दी) प्रथम खण्ड, जमीला आली जाफ़री, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1975, पृ.-226। 22. सूफी-काव्य-विमर्श, डॉ. श्याममनोहर पाण्डेय, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण 1968, पृ.-189। 23. हिंदी गज़ल की भूमिका, डॉ. शिवशंकर मिश्र, लक्ष्मी प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संसकरण-2007, पृ.-30-31। 24. डॉ. भोलाशंकर व्यास, प्राकृत पैंगलम, भाग 2, प्राकृत ग्रंथ परिषद, वाराणसी, सन् 1962 ईसवीं, पृ.-440। 25. हिन्दी कविताः इस्लामी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में (12वीं शताब्दी-14वीं शताब्दी) प्रथम खण्ड, जमीला आली जाफ़री, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1975, पृ.-209। 26. जायसी ग्रंथावली, संपादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2012, बसंत खंड, पृ.-262। 27. पदमावत, वासुदेव शरण अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, 1998, इलाहाबाद, पृ.-35। 28 पदमावत, वासुदेव शरण अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, 1998, इलाहाबाद, पृ.-700। 29 हिन्दी के कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में संगीत, डॉ. उषा गुप्त, लखनऊ विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनउ, प्रथम संस्करण 1990, पृ.-109।

■

सहायक प्राध्यापक
हिन्दी विभाग
माउंट कार्मल कॉलेज (स्वायत्त)
बेंगलोर
मो. 7290859844

व्यक्ति का व्यवहार देखना हो
तो उसे सम्मान दो
आदत देखनी है तो उसे स्वतंत्र कर दो
नीयत देखनी है तो कर्ज दो
और अगर गुण देखने हैं तो
उसके साथ कुछ समय बिताओ!

ग्वालियर घराने की षड्ज साधना

साक्षी कुलश्रेष्ठ

ख्याल गायकी के क्षेत्र में ग्वालियर घराने का जो स्थान है वह अकथनीय है। आज संगीत को जो सम्मान प्राप्त है और जो उसकी लोकप्रियता है उसका सम्पूर्ण श्रेय ग्वालियर घराने के कलाकारों को ही जाता है। शास्त्रीय संगीत की सुप्रसिद्ध गायन शैली ख्याल गायकी का प्राचीनतम घराना ग्वालियर घराने को ही माना जाता है। इस घराने में ध्रुपद से ख्याल के विकास के प्रमाण प्राप्त होते हैं जैसे आवाज की स्पष्टता, खुला व शुद्ध उच्चारण व ख्याल गीतों पर ध्रुपद का प्रभाव एवं चौतुकी (चार पदों वाले) ख्याल इत्यादि।

किसी भी तथ्य को समझने से पूर्व हमें उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को समझना अत्यंत आवश्यक है। ग्वालियर घराने के मूल पुरुष उस्ताद नत्थन पीरबख्श थे जो कि लखनऊ से ग्वालियर आये थे, आपको ध्रुपद-धमार के साथ-साथ ख्याल गीतों का भी ज्ञान था। आपने अपनी विलक्षण प्रतिभा से ख्याल गीतों को बनाकर उन्हें अपने प्रपौत्रों हस्सू-हद्दू व नत्थू खां को सिखाये। इसके साथ ही कव्वाल बच्चों के घराने के प्रवर्तक उस्ताद बड़े मुहम्मद खां, जो कि उस समय दौलत राव सिंधिया के राज गायक थे, उनकी गायकी का भी प्रभाव हस्सू-हद्दू व नत्थू खां की गायकी पर पड़ा। इस प्रकार निर्माण हुआ ग्वालियर घराने की अप्रतिम ख्याल गायकी का जो कि अष्टांग (ख्याल के 4 अंग-स्थाई, अन्तरा, आलाप, तान तथा सजावटी 4 अंग-आन्दोदलन-मींड, गमक, बहलावा, खटका-मुर्की) प्रधान गायकी बनी।

यह गायकी स्वयं में इतनी अद्‌भुत व आकर्षक थी कि कोई भी संगीत रसिक इसकी और आकर्षित होने से स्वयं को नहीं रोक पाता था। उन्नीसवीं शताब्दी में इन बन्धुत्रय (हस्सू-हद्दू व नत्थू खाँ) की कठोर संगीतोपासना ने ग्वालियर घराने की संगीत परम्परा को उसकी चरम सीमा पर पहुंचा दिया था। खाँ बन्धुओं की विशाल शिष्य परम्परा से उनकी ख्याति देश भर में हो गई थी। देश के कोने-कोने से संगीत साधक ग्वालियर घराने की षड्ज साधना को आत्मसात करने यहां आते रहे।

ग्वालियर घराने में आवाज को सशक्तता प्रदान करने के लिए षड्ज (स्वर) साधना पर अत्यधिक बल दिया गया है। आवाज सशक्त तभी होगी जब उसमें श्वास का दम हो। अतः श्वास में दम भरने हेतु यहां पर षड्ज साधना का अभ्यास कराया जाता है। इस क्रिया में जहां तक मंद्र सप्तक में आवाज सहजता से जा सके वहां तक स्वरों पर न्यास दिया जाता है। इसके लिए कलावंतों ने प्रत्येक स्वर के लिए समय सुनिश्चित किया है, जैसे-

सा	-	15 मिनिट	नि	-	15 मिनिट
ध	-	10 मिनिट	प	-	10 मिनिट
म	-	10 मिनिट	ग	-	10 मिनिट
रे	-	10 मिनिट	स	-	10 मिनिट

अपने गले के गुणधर्मानुसार गायक गुरु के निर्देशन में इन स्वरों पर रुककर खरज साधना कर आवाज में बल पैदा कर सकता है। इस प्रकार धीमे-धीमे मन्द्र, मध्य व तार तीनों सप्तकों में गाने की क्षमता को बढ़ाया जा सकता है। प्रत्येक स्वर को गाने से पहने गहरी श्वास लेते हुए स्वर पर न्यास देते हैं। इससे हमारा कण्ठ और स्वर दोनों नियंत्रित होकर सशक्त बनते हैं। इसी प्रकार तानों की तैयारी के लिए भी विभिन्न प्रकार के सरल, सपाट व वक्र पल्टे सिखाये जाते हैं और साथ ही उन्हें दसों थाटों में गाने का अभ्यास भी कराया जाता है। इससे गला प्रत्येक थाट के रागों को गाने के लिए तैयार हो जाता है। स्वर को सशक्त बनाने के लिए ग्वालियर घराने में सरगम गीत व लक्षण गीत गाने की परम्परा भी रही है।

स्वर पक्ष के साथ-साथ ताल पक्ष को भी सुदृढ़ बनाने का अभ्यास आरम्भ से ही यहां कराया जाता रहा है। ग्वालियर में कलावंतों द्वारा अपने शागिर्दों के एक हाथ में तानपुरा और दूसरे हाथ में डग्गा (तबले की जोड़ी में बड़ा या बायां) देकर अभ्यास करवाया जाता था, जिससे लय पर भी उनका समानाधिकार बना रहे। तानपुरे के साथ अभ्यास करने से स्वर की बारीकियां जैसे श्रुति, कण व मीड़ इत्यादि को आत्मसात करने में सहायता मिलती है और बायें हाथ से ठेका देने से ताल की समझ विकसित होती है।

जब तकनीक का इतना विकास नहीं हुआ था और माइक उपलब्ध नहीं होते थे तब गायक अपनी दमदार आवाज से ही सभी श्रोताओं तक पहुंचते थे। ग्वालियर के मूर्धन्य कलाकार स्वनाम धन्य पंडित कृष्णराव शंकर (पंडित जी) के लिए कहा जाता था कि उनका स्वर इतना भव्य, सशक्त और परिपक्व था कि वे 10 से 15 हजार श्रोताओं को बिना माइक के अपनी दमदार ओजस्वी आवाज से बांधे रखते थे।

ग्वालियर घराने में एक राग में अनेक बंदिशें सिखाने का प्रचलन भी आरम्भ से रहा है क्योंकि बंदिशों से राग आता है, ऐसा कलावन्तों का विचार है। प्रत्येक बंदिश में कुछ न कुछ खास संगति अवश्य होती है, प्रत्येक बंदिश का चलन व उठान इत्यादि सभी कुछ थोड़ा-थोड़ा भिन्नता लिये हुए ही होता है और इस प्रकार ज्यादा से ज्यादा बंदिशें सीखने से राग को समझने की सूझ-बूझ और अधिक बढ़ती है। यहां पर एक ही बंदिश को अन्य रागों व तालों में गाकर रियाज करने की परम्परा है। इस प्रकार ग्वालियर घराने के कलाकार स्वर के साथ हर प्रकार से प्रयोग करके उसे तराशते हैं।

ग्वालियर घराने की षड्ज साधना सम्पूर्ण संगीत जगत में विख्यात है। यहां पर जिस कुशलता से कंठ को अष्टांग गायकी के योग्य संस्कारित किया जाता है वह पद्धति अद्वितीय है। गायकी के इसी विशेष गुण से प्रभावित होकर देश-दुनिया से संगीत रसिक यहां आते रहे और गुरु के मार्गदर्शन में साधना कर अपनी स्वतंत्र पहचान बनाते रहे। कई संगीतकार तो ऐसे हुए जिन्होंने अपना स्वतंत्र घराना बनाकर उसका प्रतिनिधित्व किया। इन संगीत रसिकों में अग्रगण्य हैं-घग्गे खुदाबख्श जिन्होंने ग्वालियर घराने के मूल पुरुष उ. नत्थन पीरबख्श से 12 वर्ष तक तालीम हासिल कर आगरा घराने की गायकी को जन्म दिया। उस्ताद अब्दुल करीम खाँ साहब ने भी ग्वालियर आकर संगीत की तालीम हासिल कर किराना घराने का प्रतिनिधित्व किया। पंडित मल्लिकार्जुन मंसूर जो कि जयपुर घराने के सुप्रसिद्ध कलाकार हैं, आपने भी संगीत की प्रारंभिक शिक्षा ग्वालियर घराने से ही प्राप्त की। पटियाला घराने की सुप्रसिद्ध जोड़ी 'आलिया-फत्तू' अर्थात अलीबख्श व फतेह अली ने भी ग्वालियर गायकी का प्रशिक्षण लिया था। पंडित कुमार गंधर्व जिनकी गायकी अपनी अद्वितीयता के लिए सम्पूर्ण संगीत जगत में ख्याति प्राप्त है और जिन्होंने अकेले ही अपनी गायकी से एक अलग परम्परा को जन्म दिया जो कि 'कुमार गंधर्व परम्परा' कहलायी, आपका संगीत प्रशिक्षण भी ग्वालियर घराने से ही हुआ था और आपने अपने अथाह बौद्धिक व कलात्मक कौशल से ग्वालियर घराने की गायकी को एक नया रूप दिया।

इसी क्रम में पटियाला घराने के मूर्धन्य संगीत साधक उस्ताद बड़े गुलाम अली खां ने भी ग्वालियर घराने की षड्ज साधना सीखी थी। किराना घराने के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ 'भारत रत्न' पंडित भीमसेन जोशी व आगरा

घराने के सुप्रसिद्ध कलाकार पंडित जितेन्द्र अभिषेकी ने भी अपनी संगीत यात्रा का आरम्भ ग्वालियर घराने की गायकी से किया था। भिण्डी बाजार घराने के प्रतिष्ठित कलाकार डॉ. त्र्यम्बकराव दत्तात्रेय की प्रारम्भिक संगीत शिक्षा ग्वालियर घराने के शिरोमणि-पंडित विष्णु दिगम्बर पलुष्कर जी के पट्ट शिष्य सुविख्यात पंडित विनायक राव पटवर्धन के सानिध्य में हुई। पंडित सी. आर. व्यास जो कि आगरा घराने के सुप्रसिद्ध कलाकार के रूप में जाने जाते हैं, आपने भी ग्वालियर घराने की गायकी की ओर आकर्षित होकर पंडित मिराशी बुवा व पराडकर बुवा से कुछ समय तक ग्वालियर घराने की तालीम हासिल की थी। इस प्रकार अनेक संगीत साधक हुए जिन्होंने ग्वालियर घराने से संगीत की तालीम हासिल कर संगीत परम्परा को सुदृढ़ किया।

ग्वालियर घराना ख्याल गायकी के घरानों की शृंखला में 'नींव के पत्थर' के समान अपना स्थान रखता है और इसी कारण ख्याल गायकी का चाहे कोई भी घराना हो ग्वालियर घराने से प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से संबंध अवश्य रखता है, क्योंकि इसी मजबूत नींव पर ही सभी घराने स्थापित हैं।

सहायक स्रोत :

1. ग्वालियर घराना - डॉ. अरुण बांगरे, 2. घरंदाज गायकी- वामन हरि देशपाण्डे. 3. ख्याल गायकी के विविध घराने - डॉ. शत्रो खुराना, 4. विविध घरानों की समन्वित गायकी - डॉ. प्रतिभा शर्मा

■

राजा मानसिंह तोमर संगीत एवं कला विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म. प्र.)

मो. 9691454010, ईमेल-

sakshikul93.sk@gmail.com

लक्ष्य

एक लड़के ने एक बार एक बहुत ही धनवान व्यक्ति को देखकर धनवान बनने का निश्चय किया। वह धन कमाने के लिए कई दिनों तक मेहनत कर धन कमाने के पीछे पड़ा रहा और बहुत सारा पैसा कमा लिया। इसी बीच उसकी मुलाकात एक विद्वान से हो गई। विद्वान के ऐश्वर्य को देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया और अब उसने विद्वान बनने का निश्चय कर लिया और अगले ही दिन से धन कमाने को छोड़कर पढने-लिखने में लग गया। वह अभी अक्षर ज्ञान ही सिख पाया था, की इसी बीच उसकी मुलाकात एक संगीतज्ञ से हो गई। उसको संगीत में अधिक आकर्षण दिखाई दिया, इसीलिए उसी दिन से उसने पढाई बंद कर दी और संगीत सिखने में लग गया। इसी तरह काफी उम्र बित गई, न वह धनी हो सका ना विद्वान और ना ही एक अच्छा संगीतज्ञ बन पाया। तब उसे बड़ा दुख हुआ। एक दिन उसकी मुलाकात एक बहुत बड़े महात्मा से हुई। उसने महात्मन को अपने दुःख का कारण बताया। महात्मा ने उसकी परेशानी सुनी और मुस्कुराकर बोले, 'बेटा, दुनिया बड़ी ही चिकनी है, जहाँ भी जाओगे कोई ना कोई आकर्षण जरूर दिखाई देगा। एक निश्चय कर लो और फिर जीते जी उसी पर अमल करते रहो तो तुम्हें सफलता की प्राप्ति अवश्य हो जाएगी, नहीं तो दुनियां के झमेलों में यूँ ही चक्कर खाते रहोगे। बार-बार रूचि बदलते रहने से कोई भी उन्नत्ति नहीं कर पाओगे।' युवक महात्मा की बात को समझ गया और एक लक्ष्य निश्चित कर उसी का अभ्यास करने लगा।

तिमनगढ़ दुर्ग-नगर के शिलालेख

रामजीलाल कोली

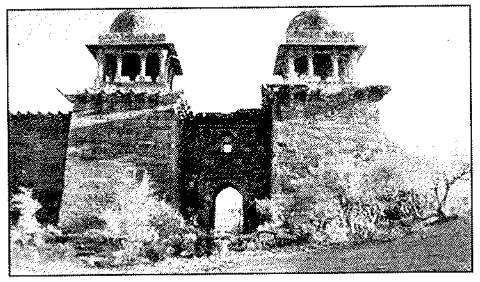

राजस्थान के करौली जिले की डांग धरा की हृदय स्थली में तिमनगढ़ दुर्ग स्थित है। यह दुर्ग करौली जिला मुख्यालय से लगभग 40 कि. मी. उत्तर-पूर्व में विंध्य व अरावली की संधि की पर्वत शृंखलाओं के मध्य 1309 फीट ऊंची सुरम्य त्रिभुवनगिरि नामक पहाड़ी पर स्थित है। इस दुर्ग का निर्माण यदुवंशी शासक तिमनपाल ने 11वीं शताब्दी में कराया था। यह दुर्ग विभिन्न नामों से जाना जाता था। अपभ्रंश साहित्य में त्रिभुवनगिरि, तिहुयणगिरि व फारसी साहित्य में थनगर, थनगीर का उल्लेख मिलता है। यहां से प्राप्त तिमनगढ़ प्रशस्ति (संवत 1142, ईस्वी 1085) में दुर्ग के निर्माता का नाम त्रिहुवनपाल व दुर्ग का नाम त्रिहुवनगिरि दुर्ग व पहाड़ी का नाम त्रिहुवनगिरि का उल्लेख मिलता है। यहां से प्राप्त एक फारसी शिलालेख (हि. सन् 925) में इसे इस्लामाबाद नाम से उल्लिखित किया गया है। इस दुर्ग पर यदुवंशी शासक तिमनपाल, धर्मपाल, हरिपाल, सहनपाल व कंवरपाल ने शासन किया था। राजा कंवरपाल के शासनकाल में 1196 ई. में मोहम्मद गौरी ने आक्रमण कर दुर्ग को अपने अधिकार में कर लिया था। बाद में गौरी ने अपने विश्वासपात्र सेनापति बहाउद्दीन तुगरिल को सौंप दिया था। कालांतर में यह दुर्ग वीरान हो गया। आज भी यहां के पुरातात्विक अवशेष इसकी समृद्धि की कहानी कहते हैं। यह दुर्ग-नगर लगभग 9 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में बसा हुआ था। इस दुर्ग के इतिहास लेखन एवं सर्वेक्षण हेतु अंग्रेज पुरातत्व विशेषज्ञ अलेक्जेंडर कनिंघम 1882-83 ई. में यहाँ आए थे।[1] लेकिन दुर्ग खंडहर व वीरान होने के कारण तथा दुर्ग में सघन वन आच्छादित होने व वन्य जीवों की शरणस्थली होने के कारण कनिंघम दुर्ग में प्रवेश नहीं कर सके और दुर्ग के बाहर से ही वापस चले गये, जिससे यह दुर्ग इतिहास लेखन के पन्नों में अपनी जगह नहीं बना सके। यह दुर्ग निरंतर दस्यु सरगनाओं की शरणस्थली बना रहा तथा मूर्ति-तस्करों का केंद्र बन गया। यह दुर्ग आधुनिक लेखकों की कलम से भी अछूता रहा। सन् 2000 में करौली जिले के पुलिस अधीक्षक श्रीमान् एम. एन. दिनेश ने मूर्ति तस्करों से मुक्ति दिलाने हेतु दुर्ग पर अस्थायी पुलिस चौकी स्थापित कर दी। जिससे यहां आम जन निर्भिक होकर भ्रमण के लिए आने लगे। इस दौरान दुर्ग की मूर्तियों के वैभव के समाचार अखबारों में पढ़कर मैं यहां अनुसंधान कार्य हेतु आकर्षित हुआ। यहां लगभग पांच वर्षों तक गहन अन्वेषण कर तथ्यों का संकलन किया, जिनमें यहां के शिलालेख प्रमुख हैं। शोध कार्य के दौरान मुझे अनेक अभिलेख मिले, ये अभिलेख इस दुर्ग-नगर के मंदिरों, मूर्तियों, भवनों के स्तम्भों व निषिदिकाओं (स्मृति स्तम्भों) पर मिले हैं।[2] ये अभिलेख तिमगढ़ के इतिहास की प्रमाणिक जानकारी प्रदान करते हैं तथा दुर्ग के समकालीन राजनैतिक, धार्मिक

व सामाजिक जानकारी प्रदान करते हैं। शोध कार्य के दौरान मुझे तिमनगढ़ प्रशस्ति नामक शिलालेख मिला था। यह शिलालेख संवत् 1142 (1085 ई.) का है। इसमें तिमनगढ़ दुर्ग में स्थित विष्णु मंदिर को कैलाश से भी विशाल बताया गया है। इस दुर्ग के निर्माता का नाम त्रिहुवनपाल व नगर का नाम तिहुवनपुर व दुर्ग का नाम तिहुवन गिरि दुर्ग अंकित है। इसी प्रकार दुर्ग में स्थित जैन मुनि बालचन्द के स्मारक के भवन पर स्तम्भ लेख मिले हैं, यहां की हिन्दू व जैन प्रतिमाओं पर प्रतिमालेख मिले हैं। दूसरी ओर अनुसंधान के दौरान दुर्ग की तलहटी में 'सात-बारात' नामक स्थल पर 5-6 फीट ऊंचाईवाली लगभग 35-40 निषिदिका (स्मृति स्तम्भ) मिली हैं, जिन पर शीर्ष भाग में किसी तीर्थंकर की मूर्ति उत्कीर्ण है तथा मध्य भाग में लेख अंकित हैं जिनमें दिवंगत जैन मुनि का नाम, उसकी गुरु-शिष्य परम्परा, निषिदिका रोपित करने वाले शिष्य-शिष्याओं श्रावक-श्राविकाओं के नाम अंकित हैं तथा इन लेखों पर तिथि भी अंकित है। ये अभिलेख

देवनागरी लिपि में उत्कीर्ण हैं, यदा-कदा कुटिलाक्षरों का प्रयोग किया गया है। इन निषिदिकाओं से इस क्षेत्र में जैन धर्म का व्यापक प्रभाव ज्ञात होता है। यहां निषिदिकाओं (स्मृतियों स्तम्भों) पर अंकित लेख प्रस्तुत हैं।

(1) **संवत् १२२० पौष वदि ५ नौसंघे/ श्री देवसेनस्य पंडिताचार्य महा तपोधन/ श्री बालचन्द्रः तस्य शिष्य आचार्य/ श्रीललनकीर्तिः आत्मकर्म्मक्षयार्थे/ तेन आत्म निषिदिका प्रतिष्ठापिता।।** संवत् 1220 पौष वदि 5 के दिन नौ संघीय श्री देवसेन के पंडिताचार्य महातपोधन श्री बालचन्द्र के शिष्य आचार्य श्री ललनकीर्ति ने स्वकीय कर्मों के क्षय के लिए स्वयं की निषीदिका की प्रतिष्ठा की।

(2) **संघ श्री देवसेनस्य पण्डित श्रीविशाल कीर्ति/ तस्य शिष्य श्री पण्डित संजमकीर्ति तस्य शिष्य/ भट्टारक महिन्द्रकीर्ति। निसही कारापिता/ संवत् १२१८ कार्तिक सूदि १ शनि दिने.../ अंबिकादि मोषि करापित।।** संघ श्री देवसेन के पण्डित श्री विशालकीर्ति के शिष्य पण्डित श्री संयमकीर्ति के शिष्य भट्टारक महेंद्रकीर्ति ने निषदिका बनवाई। संवत् 1218 कार्तिक सुदि 1 शनिवार के दिन अंबिकादि... करवाई।

(3) **संवत् १२४८ चैत्र वदि ६ गुरौ/ श्री मूलसंघांबरशीतनामा/ सुरिर्गुणज्ञै गुणचन्द्र नामा/ स्वर्ग गतौ जैन तपः पुरस्तात/ षष्ठी दिने चैव सिते तरस्य।।** संवत् 1248 चैत्र वदि 6 के दिन मूल संघरूपी आकाश में चन्द्रमा के समान सूरियों में गुणवान गुणचन्द्र का स्वर्गवास हुआ। जैन तप निमित्त छठ के दिन.....।

(4) **श्रीमत देवसेनस्य शिष्यो जज्ञे/ सुधीपरः। चन्द्रकीर्ति स्ततो शिष्य.../ चन्द्री जुषां सुहवाख्यातः.../ रामास्य... स्यासीत् एसो.../ विजय कीर्ति नामापि स्वयरो धवलितावनिः/ सूरिः सहजकीर्तिस्तस्माज्जातौति संयमः/ बभूव बहु गुणाधरा विमलकीर्ति.../ शिलो.... तस्य शिष्यो प्रतापवान्/ श्रीमद विशालकीर्त्याख्या तस्य चेयं निषिदिका/ संवत् २३७ भौमे।।** श्रीमान् देवसेन के विद्वान शिष्य चंद्रकीर्ति हुए। उनके शिष्य.... चन्द्रिका के समान शोभन फैली हुई थी।..... इस पृथ्वी पर विजयकीर्ति नाम के आचार्य हुए और उनके संयमधारी सहजकीर्ति हुए। उनके शिष्य गुणों के आधार विमलकीर्ति हुए। उनके... शिष्य प्रतापवान विशालकीर्ति की यह निषीदिका है। संवत् 1237 मंगलवार...।

(5) **संघे श्री देवसेनस्य मुनीश/ तत्शिष्यश्री विशालकीर्ति.../ कीर्तिद्या म ऊ ..../ शिष्यस्तरस्य सताम्बरः सूरि/ शीलगुणाम्बुविख्यातः संयमकीर्त्या/ स्व यशसां महता निविद्धं तद्विवियेन.../ तत्र त्रय वि... लः। अनन्तकीर्ति..../ तस्य निषीदिका संवत् १२२१ कार्तिक सुदि दि १ रवौ।।** संघ में मुनीश श्री देवसेन के शिष्य श्रीविशालकीर्ति... कीर्ति... शील गुण के समुद्र और प्रख्याति के आधार सूरि संयमकीर्ति हुए।...उनके शिष्य... अनन्तकीर्ति की यह निषीदिका है। संवत् 1221 कार्तिक सुदी 1 रविवार।

(6) **महातपोधन श्री बालचन्द्रपादुकायां/ पणमति ततशिष्य ललितक्ति/ महसेन यति शिष्यणी संघ/ श्री माणिक श्री तस्य शिष्यणी सरसत्ति/ क्षुल्लिका सलखणी श्राविका मोना/ श्राविका जसु। श्राविका वीना/**

श्राविका श्री। श्राविका महामति/ श्राविका जाठि।।/ महातपोधन श्री बालचन्द्र की पादुका को उनका शिष्य ललितकीर्ति नमस्कार करता है। यति महसेन की शिष्याएं श्री माणिकश्री की शिष्या सरस्वती, क्षुल्लिका सलखणी, श्राविका मोना, श्राविका जसु, श्राविका वीना, श्राविका श्री, श्राविका महामति, श्राविका जाठि।

(7) **महातपोधन श्री बालचन्द्रपादुकायां प्रणमति।। हर्षकीर्ति/ ....../ आर्जिका मदनश्री। रामश्री। अर्जिका महाश्री/ ..... श्री। कमलश्री। माषश्री। जयश्री। संतेश्री/ मेघश्री। क्षूल्लिका जाल्ही।। संवत् १२१९ कीर्तिक सू. १।।** महातपोधन श्री बालचन्द्र की पादुका को प्रणाम। हर्षकीर्ति... आर्यिका मदनश्री, रामश्री, आर्यिका महाश्री...श्री, कमलश्री, माषश्री, जयश्री, संतेश्री, मेघश्री, क्षुल्लिका जाल्ही, संवत् 1219 कार्तिक सू.1।

(8) **महापण्डित श्री संभवसेनपादुकायां प्रणमति शिष्यः पण्डित/ श्री सहसकीर्ति।। तस्य शिष्यणी अर्जिका कुवलय सुंदरी/ अर्जिका अनन्तमती। अर्जिका शीलसुन्दरी/ तस्य शिष्यणी वीरश्री। सेमश्री। विमलश्री/ साबुवी सा.... श्राविका सोढा।।** महापंडित श्री संभवसेन की पादुका को प्रणाम है। शिष्य पण्डित श्री सहसकीर्ति। उनकी शिष्याएं आर्यिका आर्या कुवलय सुंदरी, आर्यिका अनन्तमति, आर्यिका शीलसुन्दरी, उनकी शिष्या वीरश्री, सेमश्री, विमलश्री, ... श्राविका सोढ़ा।

(9) **संवत् १२१८......कीर्तिसेनपादुकायां..../ संघे श्री देवसेनस्य लाट वाघड़ जन्मनि/ अर्जिका रूपिणी। अर्जिका विजयश्री। अर्जिका बाला/ अर्जिका सलखणा अर्जिका... शिष्यणी अणन्त श्री।।** संवत् 1218... कीर्तिसेन की पादुका को... श्री देवसेन के संघ में लाट बागड़ म जन्मी आर्यिका रूपिणी, आर्यिका विजयश्री, आर्यिका बाला, आर्यिका सलखणा, आर्यिका... शिष्या अनन्तश्री।

(10) **श्रमण माथुर संघ सिरोमणिः/ समभवन्नदयेन्दुमुनीश्वरः/ तदनुबालमृगांक समाह्नयो/ विजयतां भुवि तस्य पदद्वयं/ सं. 1232 का सु 1 सिवमस्तु।।** माथुर संघ के शिरोमणी श्रमण उदयचन्द मुनिश्वर हुए। उनके बालचन्द्र हुए। विजयी हुए उनके पदद्वय (पादुका) संवत् 1232 कार्तिक सुदी 1 कल्याण हो।

(11) **श्रीमन्माथुरसंघीय/ बालचन्द्रस्यः धीमतः/ पदुकेषा प्रविधत्से/ तत्स्थानं कृत भक्तितः।।** श्री माथुर संघीय विद्वान बालचन्द्र की यह पादुका तत्स्थान (इस स्थान) के लिए भक्ति से बनवाई।

(12) **श्रीमन्माथुरसंघेस्मि, न्नदवेन्दुर् (नुदयेन्दु) भवन्मुनिः/तस्यनै योगिक स्पैते, भ ध्यानमत पादुके...।।** श्रीमन् माथुर संघ के मुनि उदयेन्दु (उदयचन्द) के योग तप ध्यान पादुका।

प्रस्तुत लेख में 12 पढ़ने योग्य निषिदिका लेखों का उल्लेख किया गया है जिनसे तत्कालीन जैन धर्म में साधु पद्धति व संघ पद्धति की जानकारी मिलती है। इन लेखों में जैन साधु पद्धति में मुनि, यति, भट्टारक, आर्यिका, क्षुल्लिका आदि का उल्लेख मिलता है। साथ ही संघ पद्धति में माथुर संघ, मूल संघ व नौ संघ का उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत लेखों में नौ संघ के मुनि देवसेन व उनके शिष्यों की निषिदिकायें हैं। इनमें ललनकीर्ति, महेन्द्रकीर्ति, विशालकीर्ति, अनन्तकीर्ति, बालचन्द, सम्भवसेन, कीर्तिसेन तथा मूल संघ के मुनि गुणचन्द्र एवं माथुर संघ के मुनि बालचन्द्र व मुनि उदयचन्द्र के शिष्य व मुनि विनयचन्द के गुरु थे। मुनि विनयचन्द ने दुर्ग के अजय नरेंद्र विहार में निवास कर चून्दड़ी रास नामक अपभ्रंश कृति की रचना की, साथ ही उन्होंने दुर्ग की तलहटी में निवास कर 'निर्झर पंचमी' कथा काव्य की रचना की। उन्होंने कल्याणक रासो नामक अपभ्रंश कृति की भी रचना की थी। इसी प्रकार मुनि बालचन्द ने 'दुद्धारसकथा' काव्यों की रचना की थी। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यह दुर्ग 11वीं-12वीं शताब्दी में जैन संस्कृति का महत्वपूर्ण केंद्र था। यहां जैन मुनि निवास कर धर्मोपदेश देते थे तथा जप, तप, ध्यान, योग, उपासना, साधना करने के साथ-साथ अपभ्रंश साहित्य की रचना करते थे तथा श्रावक-श्राविकाएं यहां निवास कर धर्म लाभ लेते थे।

संदर्भ

1. कनिंघम, आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट-20 पेज 91-92। **2.** कवि जदुनाथ, वृत्त विलास, ओझा निबंध संग्रह, पृष्ठ 1-5। **3.** इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इंडिया पार्ट-2, अनुवाद डॉ. मथुरालाल शर्मा भाग-2 पृष्ठ 226-227।

■

गढ़मोरा, जिला- करौली (राजस्थान)
मो. 8890975446

ऐतिहासिक कोस मीनारें

राजगोपाल सिंह वर्मा

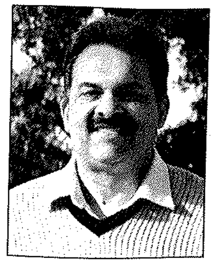

अगर आप जयपुर में मानसरोवर मार्ग पर वीर तेजाजी सर्किल से गुजर रहे हैं, तो एक ऊंची मीनार आपको आकर्षित करती है। इसी तरह आगरा शहर में पुराने आगरा-दिल्ली मार्ग यानि मदिया कटरा से अकबर के मकबरे की ओर जाने पर रास्ते में जिला कारागार मोड़ पर एक टावरनुमा संरचना आपको अवश्य दिशाई देगी। दिल्ली में ऐसी ही ऊंची पत्थर की मीनारें जसोला में अपोलो अस्पताल के निकट मेट्रो के गेट नंबर एक पर तथा बदरपुर के तेजपुर ग्राम में दिखाई पड़ती हैं। दिल्ली के राष्ट्रीय प्राणी उद्यान यानि चिड़ियाघर की सीमा में भी एक ऐसी मीनार अपने मूल रूप में खड़ी है। यही मध्ययुगीन समय की कोस मीनारें हैं जो एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी का ज्ञान कराती थी। इन कोस मीनारों से यात्रियों को रास्ता पहचानने व दूरी नापने में मदद मिलती थी। भारत में अभी भी 'कोस' को दूरी नापने की एक माप (इकाई) की मान्यता है, अर्थात अभी भी ग्रामीण इलाकों में बुजुर्ग लोग दूरी के लिये कोस का प्रयोग करते हुए मिल जाते हैं। प्राचीनकाल में यह चार हजार हाथ, अथवा किसी-किसी के मत से आठ हजार हाथ की दूरी का नाम था। आजकल एक कोस को दो मील (लगभग 3.25 किलोमीटर) का माना जाता है। प्राचीन समय में किलोमीटर या मील से नहीं, कोस से मार्ग की दूरी मापी जाती थी। भारत में कोस की अवधारणा की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई मानी जाती है।

दरअसल ये संरचनायें शेरशाह सूरी और बाद में मुगल साम्राज्य में शाही काफिलों को दिशा तथा दूरी का ज्ञान तथा उनके आस पास विश्राम के साधन मुहैया कराने के लिए बनाई गई थी, लेकिन वास्तविक रूप में इनकी कल्पना ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्राट अशोक महान ने कल्याणकारी राज्य की परिकल्पना के एक अंग के रूप में की थी। उस समय निर्माण की अविकसित तकनीकों के कारण वे अधिक टिकाऊ नहीं हो सकीं। मौर्य काल में सड़कें केवल मिट्टी की बनी होती थी।

मौर्य शासन काल में इन मीनारों की स्थापना का उल्लेख मिलता है। उनकी राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) से लेकर तक्षशिला (अब पाकिस्तान) तक जगज-जगह ऐसी कोस मीनारें स्थापित की गई थीं। यद्यपि इस सड़क को उस समय भी राजमार्ग का स्तर प्राप्त था, लेकिन व्यापारी भी इस मार्ग से अपने सामान को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में उपयोग करते थे। यह आम जनता को लाभ पहुंचाने के लिए उठाये गए कदमों की शृंखला का ही एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। यह राजमार्ग उनकी राजधानी को वर्तमान दिल्ली-आगरा और पंजाब से होते हुए अफगानिस्तान और ईरान से भी जोड़ता था। इस तथ्य को भी नहीं नकारा जा सकता कि शेरशाह सूरी ने इस मार्ग और कोस मीनारों को सुदृढ़ करने के रूप में ही मजबूत और

पक्की ग्रैंड ट्रंक रोड का निर्माण कराया था। इतिहास में उल्लेख है कि सन 1556 से सन 1707 तक अकबर और उसके बाद जहांगीर व शाहजहां ने इस व्यवस्था को बढ़ाने का कार्य किया। बताते हैं कि मुगल शासकों ने लगभग एक हजार कोस मीनारों का निर्माण कराया था। 'अकरबनामा' में कोस मीनारों का उल्लेख मिलता है। ये कोस मीनारें मुख्यतः अविभाजित भारत में बंगाल के गांव सोनार से जयपुर और राजस्थान के कई प्रमुख स्थलों, फतेहपुर सीकरी, आगरा, मथुरा, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब के क्षेत्रों से होते हुए पेशावर शहर तक फैली हुई थी। विश्व के सर्वाधिक लंबे राजमार्गों में से एक ग्रैंड ट्रंक रोक पर एक निश्चित अंतराल पर स्थित ये मीनारनुमा संरचनायें आज अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जूझ रही हैं। इनमें से काफी पहचान न आने की सीमा तक क्षतिग्रस्त हो गई हैं। अब पुरातत्व विभाग ने इनके चारों ओर लोहे की ग्रिल से घेर कर सुरक्षा की व्यवस्थाएं बनाई हैं।

ये कोस मीनारें शेरशाह सूरी द्वारा निर्मित राजमार्ग (जीटीरोड) पर बने वे स्तंभ हैं जो जमीन से नौ फुट ऊंचे अष्टकोणीय कोर्नीश और सत्रह फुट गोलाई लिए हुए हैं। कोस मीनार की कुल ऊंचाई 26 फुट और ऊपर की ओर गोलाई कम होते हुए दस फुट की गोलाई में कार्नीश के साथ गोलाकार लिए बंद हो जाती है। नीचे से चौड़ी, चौकोर और मजबूत आधार वाली कोस मीनारें चूने और सुरखी से बनायी गयी छोटी ईंटों से बनी हुई हैं।

इन मीनारों पर चारों ओर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर चौकोर आले (खाने) बने हुए हैं। इन आलों की संख्या 24 है जो तीन पायदानों पर हैं। हर पायदान पर आठ चौकोर आले हैं। ये चौकोर आले कोस मीनारों की मरम्मत करने के लिए छोड़े जाते थे जिससे मीनारों में बार-बार छेद करने से बचा जा सके। मरम्मत और रखरखाव के समय मीनारों पर नीचे से ऊपर तक चौकोर आलों में लकड़ी की पेटी लगाकर बल्लियों को खड़ा कर, आपस में रस्सी से बांधकर, मचान बनाकर मीनारों की मरम्मत या पुताई का कार्य पूर्ण किया जाता था। कोस मीनारों के अष्टकोणीय भाग के नीचे दो गुणा दो फुट के चौकोर और दो इंच गहरे आठ चौखाने निर्मित हैं। इनमें रात्रि के समय प्रकाश व्यवस्था के लिए मशाल जला कर रखी जाती थी।

इन कोस मीनारों के लिए उस समय प्रशासन की ओर से एक अश्वारोही संदेशवाहक और शाही सैनिकों की नियुक्ति होती थी जो शाही संदेशों और पत्रों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने का कार्य भी करते थे। कहते हैं कि भारत में पत्र भेजने की व्यवस्था इन्हीं मीनारों के माध्यम से प्रारंभ हुई थी। इतिहास में इस तथ्य का उल्लेख है कि रास्ता भटके मुसाफिरों को पहले कोस मीनार को खोजना पड़ता था, तभी वे अपने गंतव्य की यात्रा फिर से जारी रख पाते थे। कोस मीनारों में एक बड़ा नगाड़ा भी रखा जाता था जो प्रत्येक घंटे की समाप्ति पर बजाया जाता था। इन मीनारों के पास स्थित सरायों में यात्री विश्राम कर अपनी थकान दूर किया करते थे। इन मीनारों को देखकर ही लोग यह तय करते थे कि उनकी मंजिल अभी और कितनी दूर है। बताते हैं कि ऐसी कुछ मीनारों के पास एक कुंआ या बावड़ी भी होती थी, जहां पर कुछ देर बैठकर आराम किया जा सके और पानी पीकर प्यास बुझाई जा सके। प्रत्येक मीनार के पास हरे-भरे पेड़ भी होते थे, जिनकी छाया में बैठकर राहगीर आराम कर सकें। इन मीनारों पर राज्य की ओर से प्रबंधक नियुक्त होते थे जो दिन में लोगों की सेवा करते थे और रात में मीनार के ऊपर रोशनी कराते थे, जिससे रात में भटके राहगीर को रास्ता मिल जाए।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के अनुसार हरियाणा में अभी 49 कोस मीनारें हैं जिनमें से फरीदाबाद में 17, सोनीपत में 7, पानीपत में 5, करनाल में 10, कुरुक्षेत्र में 9 हैं। कहा जाता है कि इस रास्ते में मूल रूप से लगभग 600 मीनारें बनाई गई थी, लेकिन वर्तमान में कुल 110 कोस मीनारें ही उपलब्ध हैं। ये कोस मीनारें मुख्यतः दिल्ली, सोनीपत, पानीपत, कुरुक्षेत्र, अंबाला, लुधियाना, जालंधर, अमृतसर से पेशावर (पाकिस्तान) तक व दिल्ली-आगरा राजमार्ग पर फतेहपुर सीकरी, आगरा और मथुरा में स्थापित थी। आगरा और दिल्ली की मुख्य सड़कों के किनारे कोस मीनारें आज भी अस्तित्व में हैं। अकेले आगरा जनपद की सीमा में कुल आठ कोस मीनारें सही सलामत स्थिति में आज भी द्रष्टव्य हैं। फतेहपुर

सीकरी और मथुरा मार्ग पर स्थित मीनारें पुरातत्व विभाग के रिकॉर्ड में दर्ज हैं। राजस्थान में भी जयपुर, बयाना और खानवा (जहां बाबर और राणा सांगा का युद्ध हुआ था), ये मीनारें इतिहास की गवाही देती हैं। अजमेर में भी ये रास्ता दिखाती थी, यह बात अलग है कि नए हाइवे बनाने की प्रक्रिया में कुछ मीनारें मुख्य रास्ते से अलग सुनसान जगह या खेतों में कट गई हैं।

अबुलफजल के 'अकबरनामा' में इन कोस मीनारों का विस्तृत उल्लेख करते हुए बताया गया है कि सन 1575 में अकबर ने प्रथम बार इन मीनारों की परिकल्पना का विस्तार करते हुए आगरा से अजमेर तक तथा फिर आगरा से अम्बाला तक एक निश्चित अंतराल पर इन मीनारों के निर्माण के आदेश जारी किये थे। बाद में उत्तर भारत में इनका विस्तार पेशावर तक तथा पूर्वी भारत में कन्नौज के रास्ते अविभाजित बंगाल तक किया गया। लुधियाना शहर के आसपास आज भी पांच कोस मीनारें अच्छी और सुरक्षित स्थिति में खड़ी हैं।

ईंट व चूने-गारे से बनी ये कोस मीनारें हालांकि अपने अनुमानित समय से अधिक जी चुकी हैं, लेकिन रख-रखाव के अभाव में वे अब अपने अस्तित्व के लिए जूझ रही हैं। कुछ वर्ष पहले ही दिल्ली उच्च न्यायालय के एक आदेश से प्रशासन ने इन कोस मीनारों के पास से अतिक्रमण को हटाया था। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग ने इन कोस मीनारों को राष्ट्रीय स्मारक घोषित किया है तथा अधिनियम 1958 (24) के अनुसार इन्हें हानि पहुंचाना दंडनीय अपराध घोषित किया गया है।

■

फ्लैट नं.103, रीगेल रेजीडेंसी
आगरा एन्क्लेव, कामायनी हॉस्पिटल के पीछे
सिकंदरा, आगरा-282007 (यूपी)
मो. 9897741150,
ई-मेल : rgsverma.home@gmail.com

● *मौर्य-काल (300 ईस्वी पूर्व) में निर्मित इस राजमार्ग को 'उत्तरापथ' कहा जाता था जिसे बाद में शेरशाह सूरी (1486-1545 ईस्वी) ने उन्नत किया और फिर मुगल बादशाहों ने इसका विस्तार किया। अंग्रेजों के समय इस सुदीर्घ मार्ग को ग्रैंड ट्रंक रोड कहा जाने लगा। -सम्पादक*

आलोचना

अमेरिका के सर्वाधिक लोकप्रिय राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के विषय में उनके विरोधी प्रायः कुछ न कुछ अखबारों में प्रकाशित करवाते रहते थे। किंतु लिंकन कभी उनका प्रतिउत्तर नहीं देते थे। एक दिन उनके एक मित्र ने कहा, 'आपके विरोधी इतना कुछ आपके बारे में लिखते हैं। आप उनका जवाब क्यों नहीं देते? आपको भी जवाब देब चाहिए। लिंकन ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया, 'मित्र! यदि मैं उनका जवाब देने लगूंगा तो मेरा सारा समय इसी में निकल जायेगा। फिर मैं कोई जनकल्याण का कार्य नहीं कर पाउंगा। जीवन के अंत में यदि मैं अपने कार्यों के द्वारा बुरा साबित होता हूँ तो मेरे द्वारा दी गयी किसी सफाई का कोई मूल्य नहीं होगा। 'यदि मैं एक अच्छा व्यक्ति साबित होता हूँ तो फिर इन आलोचनाओं का कोई मूल्य नहीं होगा। इसलिए मैं इनपर ध्यान दिए बिना चुपचाप अपना काम करता हूँ।

संत कवि नायनमार और आलवार

डॉ. चंदन कुमारी

तमिल भाषा के साहित्य को सात युगों में बाँटा गया है जो क्रमशः इस प्रकार हैं– संघ काल (500 ई.पू.-100 ई.), संघोत्तर काल (100 ई.-600 ई.), पल्लव राजाओं का काल (600 ई.-850 ई.), चोल राजाओं का काल (850 ई.-1350 ई.), नायक्कर राजाओं का काल (1350 ई.-1750 ई.), योरोपियों का काल और आधुनिक काल (1750 ई.से वर्तमान समय तक)। संघ काल में काव्य रचना में प्रवृत्त कवियों ने सभा की स्थापना की जिसे 'संघ' कहा गया। इस सभा से जुड़े सदस्यों का लक्ष्य केवल साहित्य के विकास से संबंधित था। इस तरह के तीन संघों के अस्तित्व का ज्ञान शिलालेखों एवं तमिल साहित्य के आदिकाल से संबंधित ग्रंथों से प्राप्त हुआ है। 1947 ई. में स्वतंत्रता पूर्व कवियों को राज्याश्रय प्राप्त था तथापि आश्रयदाता राजा की अनुचित प्रशंसा करने से उन्होंने सदा परहेज किया, कविता केवल कविता के लिए रची जा रही थी। चारण कवि होने के बाद भी न उन पर यश का लोभ हावी हुआ था और ना ही अर्थ का। ये कवि-गण अर्थ के दास बने कवियों को उपहास की भाषा में 'वाणिज्य कवि' कहकर संबोधित किया करते थे। संघ काल जहाँ साहित्य के लिए 'स्वर्ण युग' रहा वहीं संघोत्तर काल 'अंधकार युग' साबित हुआ। इस युग में तमिल साहित्य की रचना एवं उसके प्रसार की गति बहुत धीमी रही। परन्तु इस युग में ही भक्ति साहित्य को समृद्ध करने वाले शैव और वैष्णव संतों का आविर्भाव चौथी-पाँचवी शताब्दी में हुआ। इन्हें क्रमशः 'नायनमार' और 'आलवार' के नाम से जाना जाता है। तमिल प्रदेश के इन संत कवियों ने अपनी भक्ति प्रधान रचनाओं से साहित्य को निरंतर समृद्ध किया। इस प्रकार संघोत्तर काल के प्रमुख अवदान के रूप में तमिल में भक्ति साहित्य को जाना जाता है।

नायनमार : तमिल प्रदेश के शैव कवियों को 'नायनमार' कहा जाता है। चेक्किलार कृत 'पेरियपुराणम्' ग्रंथ (बारहवीं शती) में 63 नायनमारों का जीवनवृत्त दिया गया है। 'शैव धर्म के संत कवियों में प्रख्यात महिला संत कारैकालअम्मैयार इसी युग (संघोत्तर काल) की थी। ......तमिल प्रांत के अठारह ज्ञात संतों सिद्धों में पतिनेणसित्तर (तिरुमूलर) नाम के संत कवि सर्वप्रमुख थे। शिव की उपासना में उन्होंने कई हजार भक्ति प्रधान कविताओं की रचना की थी। उनका जीवनकाल पाँचवी शती के अंतिम तथा छठी शती के प्रारंभिक चरण के मध्य माना जाता है।...अपने नाम के लिए आराधना करना, भक्ति के नाम पर लौकिक लाभ उठाने का प्रयास करना, दिखावे के लिए भक्त का वेश धारण करना आदि का आप घोर खंडन करते थे। इस कारण आधुनिक काल के भक्ति के विशेषज्ञ उन्हें 'दक्षिणी कबीर' कहते हैं (तिवारी, पृ. 286-287)। इन्होंने संस्कृत के 'मंत्रमालिका' ग्रंथ के अनुकरण पर तमिल भाषा में 'तिरुमंतिरम'

ग्रंथ का निर्माण किया। 'भारतीय साहित्य की पहचान' (तिवारी) ग्रंथ में संकलित अपने शोधपत्र 'तमिल साहित्य' में डॉ. जी. आशीर्वादम ने उपरोक्त विवरण के अतिरिक्त 'नालवर' का भी उल्लेख किया है। नालवर यानी चार शिव भक्त संत। 'तिरुज्ञानसम्बन्धर, तिरुनावुकरसर, सुन्दरमूर्ति नायनार और माणिक्कवाचकर', इन संतों को नालवर के रूप में जाना जाता है। इनके द्वारा रचित शिवभक्ति संबंधी गीतों को 'पदिकम' कहा जाता है। आज भी शिव-स्तुति के रूप में इनका गायन किया जाता है। तिरुज्ञानसम्बन्धर ने 384 पदिकम एवं तिरुनावुकरसर ने 311 पदिकम की रचना की। माणिक्कवाचकर का एक ग्रंथ मिलता है 'तिरुवाचकम' 'भगवान शिव की आराधना में विविध काव्य-शैलियों में रचे गये गीत इस ग्रंथ में संगृहीत हुए हैं, विलायती विद्वान डॉ. जी. यू. पोप ने जब 'तिरुवाचकम' का अध्ययन किया तब उसने कहा था कि इसका अध्ययन करते-करते मेरी आँखें डबडबा आयीं,' (तिवारी, पृ. 289)।

आलवार : तमिल प्रदेश के वैष्णव कवियों को आलवार कहा जाता है। इनकी संख्या बारह है। इन्होंने विष्णु के विविध रूपों की उपासना की तथा भक्तिमय पदों की रचना की। इनके द्वारा रचित रामकथा के विविध प्रसंगों का संग्रह 'पाशुरप्पडी रामायण' के रूप में उपलब्ध है। इस संग्रह को तैयार करने का श्रेय श्री पेरियावाच्चान पिल्लै को जाता है जो 'प्रबंधम' के टीकाकार भी हैं। 'शठकोप' और 'परांकुश' नाम से जाने जानेवाले 'नाम्मालवार' (5वें आलवार) मुख्य रूप से कृष्ण को परब्रह्म मानते थे, उनकी कृति 'सहस्रगीति' में दशरथ सुत राम की उपासना की भी चर्चा उपलब्ध है। ये कहते हैं, 'दशरथस्य सुतं तं बिना अन्यशरणवान्नास्मि'। इनकी कृति 'तिरुवायमोली' में भी रामभक्ति का वर्णन है। कहा जाता है कि अपने साधनास्थल व्यंकटाचल में इन्होंने राम की मूर्ति की स्थापना भी की। केरल के चेरवंशी राजा कुलशेखर (7वें आलवार) भी रामभक्त थे। इन्हें कुलशेखर आलवार या कुलशेखर पेरुमाल के नाम से भी जाना जाता है। जनश्रुति है कि एक बार सीताहरण का प्रसंग सुनते ही इन्होंने लंका पर चढ़ाई की आज्ञा दे दी थी। वैसे कुलशेखर मूल रूप से कृष्णभक्त थे और भगवान रंगनाथ विष्णु की आराधना करते थे। इनकी कृति 'पेरुमाल तिरुमोली' में बाल रूप राम को माँ कौशल्या द्वारा लोरी सुनाना, राम के वनगमन के अवसर पर दशरथ की पीड़ा इत्यादि की मार्मिक व्यंजना हुई है। 'शठकोप एवं कुलशेखर के अतिरिक्त अन्य आलवार संतों के गीतों में भी उँच-नीच के भावों से विनिर्मुक्त रामभक्ति के विविध रूपों का प्रतिपादन हुआ है' (शर्मा : पृ. 162)। इस क्रम में रामभक्त पेरियालवार हैं जिनकी मुख्य कृतियाँ हैं- 'तिरुपल्लांडुबा' और 'पेरियालवार तिरुमोली'। रामकथा के जिन प्रसंगों को इन्होंने अपनी कृतियों में स्थान दिया है, वे हैं- धनुर्भंग प्रसंग, राम वनगमन के समय दशरथ की मूर्छावस्था, निषादराज गुह से मैत्री, सीता को हनुमान द्वारा राम मुद्रिका दिया जाना, रावण का अंत तथा विभीषण को लंका का राजा होने की घोषणा इत्यादि। इनके पल्लांडु (प्रभु की मंगलकामना) पद आज भी वैष्णव मंदिरों में, दिव्य प्रबंधम् का पाठ करते समय गाए जाते हैं। इनकी दत्तक पुत्री आण्डाल की कांता-भक्ति स्वकीया भाव की है। इन्हें 'शूडिकोदुत नाच्चियार' भी कहा जाता है कारण कि एक बार प्रभु रंगनाथ (विष्णु) को माल्यार्पण करने से पूर्व इन्होंने उसे स्वयं धारण किया था। इनकी कृतियाँ हैं- 'तिरुप्पावै' और 'नाच्चियार तिरुमोली'। आण्डाल के तरुप्पावै के पदों के गायन व मनन से आचार्य रामानुज समाधि में लीन हो जाते थे। किंवदंति है कि आण्डाल वैवाहिक वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर स्वामी रंगनाथ के विग्रह में विलीन हो गई थी।

तोंडरडिप्पाडी आलवार ने अपनी कृति 'तिरुमाले' में दस प्रभाती पदों की रचना की है। वैष्णव भक्ति पद्धति में श्री रंगनाथ को निद्रा से जगाने में इन प्रभाती के पदों का गायन किया जाता है। इनमें श्रीरंगनाथ के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया जाता है, वे हैं- राक्षस कुल विनाशक, धनुर्धर, देवाधिदेव, महर्षि विश्वमित्र के यज्ञ का संरक्षण करनेवाले, अयोध्याधीश, लंकाधिपति विभीषण द्वारा पूजित, गजेंद्र रक्षक इत्यादि। इनके पदों में विशेष रूप से राम का लंका में राक्षस-दलन के धनुर्धारी रूप का वर्णन है। यहीं लंका के राजा (विभीषण) द्वारा राम-सेवा का उल्लेख हुआ है। इस संदर्भ में जनश्रुति है कि कावेरी नदी के तट पर प्रतिष्ठित की गई श्री रंगनाथ की एक मूर्ति स्वयं श्रीराम ने लंका का राज्य देने के पश्चात विभीषण को दी थी (सेठ : पृ., 149)। तिरुप्पाणालवार की कृति 'अमलनादिपिरान' में भी रामकथा की झलक मिलती है। यद्यपि इनके श्रीरंगम संपूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी बाल गोपाल माखन प्रिय हैं जिनकी स्तुति करते हुए कवि कहते हैं- 'जलद वर्ण, गोपाल रूप में माखन खाने वाले मुख का ही चिंतन भक्त का हृदय पुनः पुनः करता है। ये वही हैं जिन्होंने उँचे सुदृढ़ प्राचीर से घिरी लंका के नरेश के दस शीशों को बाण से काट कर गिराया; जो सागर वर्ण के हैं, नील भ्रमरों के मधुरगान तथा नील मयूरों के नर्तन से युक्त श्री रंग के स्वामी हैं (सेठ, पृ.161)। किंवदंति है कि ये भी श्री रंगनाथ की दिव्य ज्योति में विलीन हो गए थे।

तिरुमंगेआलवार का अन्य नाम परकाल और नीलम है। इनकी छः कृतियाँ नालायिर दिव्य प्रबंधम् में संग्रहीत हैं। इनकी भक्ति दास्य और कांता भावों की है। इनकी कृति 'पेरिय तिरुमोलि' में रामभक्तिपरक पद हैं। एक पद (4.8.1-10) के कुछ अंश का भावार्थ यहाँ द्रष्टव्य है- 'जलपूर्ण सागर पर पुल बांधकर लंका दुर्ग का नाश करनेवाले नाथ; विनाश करने में समर्थ वानरों के स्वामी; सकल भुवनों को निगलकर उगलने वाले नाथ; चारों वेदों के द्वारा भी जिनका वैभव पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं हो पाता; प्रकाशित' ज्योतिर्मय सूर्य-चंद्र के साथ देवों को भी अप्राप्य;...' (सेठ, पृ. 169)। आलवारों ने एक ओर मधुर भाव की भक्ति की प्रतिष्ठा की तो दूसरी ओर सामाजिक खाई को पाटने का प्रयास भी किया। उन्होंने यह दिखाया कि ईश्वर की दृष्टि में सभी समान हैं, वे वर्ग-वर्ण-लिंग हर भेद से परे हैं। प्रपत्ति भावना प्रधान आलवारों को भगवद अनुग्रह पर पूरा भरोसा था। प्रभु का कृपा-कटाक्ष पाने के लिए विह्वल आलवार भक्तों ने विष्णु के अवतारों की स्तुति, भेद और द्वैत के बिना की है। यहाँ विष्णु, राम, कृष्ण और रंगनाथ सब एक हैं। इनके काव्य की विशेषता है संगीतात्मकता, इनके सभी पद विभिन्न राग-रागिनियों में आबद्ध, भावोद्रेक करने में सक्षम और गेय हैं। आलवारों ने कृष्ण लीला का व्यापक वर्णन मुक्तकों के माध्यम से किया है। इस तरह यह परवर्ती कृष्णभक्त कवियों के लिए प्रेरणादायक बन गया और साथ ही राम भक्तिकाव्य के विकास की एक मजबूत कड़ी के रूप में भी उभरा। जनभाषा और गेय पदों में वैष्णव भक्ति की अभिव्यक्ति से एक ही साथ समूचे लोक ने भक्ति रस का छककर पान किया। इससे जन जागृति आई जिससे सामाजिक असमानता को दरकिनार करने का प्रयत्न भी आरंभ हो सका।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार 'ये भक्त कवि अधिकतर निम्न वर्ग के व्यक्ति थे और उनमें से अधिकांश अशिक्षित भी थे। इन्होंने ही भक्ति को सर्वप्रथम सामान्य जनजीवन के भी स्तर तक ला दिया।' आलवारों ने समाज में भावनात्मक ऐक्य लाने का प्रयास किया। इनमें द्वैत सर्वथा अस्वीकृत ही रहा। आलवारों के लिए भक्ति अगर जीवन का विधायक तत्व थी तो प्रेम परम तत्व था जो पूर्णरूपेण एक होना सिखलाता है। भक्ति और समर्पण के संदर्भ में आलवारों के संबंध में यह विचार द्रष्टव्य है- "The Alvars generally advocated implicit faith, ardent devotion and utter surrender of will and action to Vishnu in any of his numerous forms in which he is enshrined in several temples. It is understood that through their example and percept and propagation of the tenets of Vishnu-Bhakti and proselytism, these Alvars established Vishnu cult firmly in South India." (सेठ, लेखक की ओर से)। दक्षिण में विष्णु भक्ति आलवारों के संरक्षण में बढ़ती रही। इस भक्ति का बीज ईसा पूर्व तीसरी-चौथी सदी से पहली सदी तक उत्तर भारत में वासुदेव की उपासना के रूप में मौजूद था। ये वैष्णव भक्त सात्वत, पांचरात्र, भागवत और ऐकान्तिक के नाम से जाने जाते थे। कालांतर में सात्वतों की ऐकांतिक वासुदेवोपसना ही कृष्ण-भक्ति के रूप में विश्वव्यापी हुई जिसका उल्लेख जर्नल ऑफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (1915) में है। इस तथ्य का विस्तृत विवरण डॉ. पी. जयरामन की पुस्तक 'भक्ति के आयाम' में भी उपलब्ध है।

आलवारों की भक्ति को आचार्यों ने ठोस सैद्धांतिक आधार प्रदान किया। 9वीं तथा 10वीं सदी में इस उन्मुक्त प्रवाह मयी भक्ति को वैदिक और शास्त्रीय रूप देनेवाले

आचार्यों का आविर्भाव हुआ। इन आचार्यों ने सिद्धांत आधारित संप्रदायों की स्थापना की। इनमें एक है 'श्री संप्रदाय' जिसके प्रथम आचार्य हैं श्री रंगनाथ या नाथ मुनि जिन्होंने आलवारों के साहित्य का संग्रह 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' के नाम से कर, लुप्त हो रहे भक्ति भरित तमिल वेद को सुरक्षित किया। इनके बाद यामुनाचार्य ने अद्वैतवाद के खंडन एवं भक्ति के प्रतिपादन हेतु 'सिद्धित्रय', 'गीतार्थ संग्रह' इत्यादि ग्रंथ लिखकर अपना योगदान दिया। ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने की उनकी अधूरी इच्छा को 'श्री वैष्णव संप्रदाय' के संस्थापक रामानुजाचार्य ने पूर्ण किया। विशिष्टाद्वैत सिद्धांत पर आधारित इस संप्रदाय में लक्ष्मीदेवी और भूदेवी से सेवित नारायण ही इष्ट हैं। रामानुजाचार्य की 13वीं पीढ़ी में राघवानंद हुए जिन्होंने 'रामावत संप्रदाय' की स्थापना की। इनके शिष्य रामानंद ने 'श्री संप्रदाय' से निकली विभिन्न धाराओं को पुनः 'श्री संप्रदाय' के अंतर्गत लाकर भक्ति का मार्ग सबके लिए प्रशस्त कर दिया। इन्होंने सीता-राम को इष्ट माना। भक्ति के अखिल भारतीय स्वरूप को पोषित करने में इन सब के अतिरिक्त मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, वल्लभाचार्य, निंबार्काचार्य, अग्रदास इत्यादि आचार्यों ने भी अपना योगदान दिया।

संदर्भ :

❖तिवारी– डॉ. सियाराम (2009), भारतीय साहित्य की पहचान, पटना नालंदा खुला विश्वविद्यालय। ❖सेठ, डॉ. रवीन्द्र कुमार (1988), तमिल वैष्णव कवि आलवार, दिल्ली : साहित्य शोध संस्थान। ❖वही- (1986) भक्ति की प्रारंभिक कृति मुकुन्दमाला, दिल्ली-साहित्य शोध संस्थान। ❖शर्मा राजनाथ (1976), हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियां : एक नवीन दृष्टि, भारत प्रकाशन मंदिर। ❖चतुर्वेदी आचार्य परशुराम, भारतीय साहित्य में भक्ति धारा, इलाहाबाद : भारती भंडार।

■

द्वारा- श्री संजीव कुमार,
आईडीएएस, आईएफए ऑफिस,
इंफैंट्री स्कूल, महू, मध्यप्रदेश-453441
chandan82hindi@gmail.com
मोबाइल 8210915046

अपरिग्रह

एक बार राजा भोज एक जंगल के रास्ते से जा रहे थे। साथ में उनके राजकवि पंडित धनपाल भी थे। रास्ते में एक विशाल बरगद के पेड़ में मधुमक्खियों का एक बहुत बड़ा छत्ता लगा था। जो शहद के भार से गिरने ही वाला था। राजा भोज ने ध्यान से देखा तो पाया कि मधुमक्खियां उस छत्ते से अपने हाथ पैर घिस रही हैं। उन्होंने राजकवि से इसका कारण पूछा। राजकवि बोले, 'महाराज! दान की बड़ी महिमा है। शिवि, दधीचि, कर्ण, बलि आदि अनेक दानियों का नाम उनके न रहने के बाद भी चल रहा है। जबकि केवल संचय करने और दान न करने वाले बड़े-बड़े राजा महाराजाओं का आज कोई नाम लेने वाला भी नहीं है। इन मधुमक्खियों ने भी आजीवन केवल संचय ही किया है। कभी दान नहीं किया। इसलिए आज अपनी संपत्ति को नष्ट होते देखकर इन्हें दुख हो रहा है। इसीलिए ये अपने हाथ पैर घिस रही हैं।

संत साहित्य के सामाजिक संदर्भ

पूजा शर्मा

हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में एक काव्य धारा विशेष का प्रवर्तन हुआ जिसे डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'संतकाव्य' परंपरा का नाम दिया। मध्यकालीन भारतीय साहित्येतिहास (15वीं सदी से लेकर 17 वीं सदी) संतों की वाणी में सिमट आया है। उस समय समाज में सर्वाधिक विषमता धर्म में थी। प्रत्येक युग का साहित्य उस युग की परिस्थितियों की देन होता है। हिंदी साहित्य का भक्तियुग भारत में राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक संघर्ष का युग था। राजनैतिक दृष्टि से यह युग हिंदुओं की पराजय और मुस्लिम साम्राज्य के उदय का युग था। पूरे भक्तिकाल में दिल्ली पर तुगलक, खिलजी सैयद, लोदी वंश का शासन रहा फिर मुगलों ने पानीपत के युद्ध में इब्राहिम लोदी को पराजित कर भारत में मुगल-साम्राज्य की स्थापना की। सामाजिक दृष्टि से देखें तो भक्तिकाल बहुत अधिक उथल-पुथल का तथा आंतरिक और बाह्य संघर्ष का युग था। समाज में भिन्न-भिन्न धर्म,विश्वास, रीति-रिवाज और आचार विचार के लोगों के आने से अत्यधिक उथल-पुथल मच रही थी। समाज में जाति-पांती और छुआछूत का अत्यधिक भेदभाव था। समाज में स्त्री का स्थान पुरुष से नीचा था।

मध्य युग में वैदिक मत के साथ-साथ और भी अनेक धार्मिक संप्रदाय प्रचलित थे। विदेशियों के आने से उनकी धर्म साधना का स्वरूप भी दृष्टिगोचर हो रहा था। हिंदू-मुसलमानों के बीच कटुता दिखाई पड़ने लगी थी। ऐसे समय में निर्गुण भक्तकवियों ने अपनी काव्य रचना के द्वारा समाज में व्याप्त कटुता को दूर करने का भी प्रयास किया। ये समाज में व्याप्त अंधविश्वासों रुढ़ियों कुरीतियों और बाह्य आडंबरों का खंडन अपनी कविता के माध्यम से कर रहे थे। संत कवियों का लक्ष्य काव्य रचना के साथ जन-जन के उद्बोधन की भावना सन्निहित है। सामाजिक स्तर पर संतों ने पाखंड एवं अंधविश्वासों का पूरी दृढ़ता के साथ खंडन किया है। मिथ्या के प्रति जैसी अनास्था इन संत कवियों ने व्यक्त की वैसी न तो पहले कभी कोई समाज सुधारक कर सका और न ही परवर्ती युग में ही किसी का ऐसा साहस हो सका। संत कवि निर्भीक स्पष्टवादी और सत्यवादी थे। किसी भी धर्म की मिथ्या धारणाओं का खंडन करते समय इनके मन में भय का संचार नहीं होता था। कबीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा था– 'मैं चौराहे पर सिर पर कफन बांध कर खड़ा हूं, सत्य को प्रकट करते समय मुझे किसी का भी भय नहीं, जिसमें सत्य को प्रकट करने का साहस हो वह मेरे साथ आए।'[1]

संतमत का प्रवर्तन सर्वप्रथम महाराष्ट्र के संतों के द्वारा किया गया। महाराष्ट्र के संतों में नामदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नामदेव ने मूर्ति-पूजा तथा धर्म के बाह्यडम्बरों का विरोध करते हुए प्रेम, भक्ति एवं समानता का उपदेश दिया– ***'हिंदू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद। नामा सोई सेविया जहँ देहरा न मसीत।।'***

संत साहित्य परंपरा में कबीर,रैदास,नानक,दादू दयाल, मलूक दास, दयाबाई, सहजोबाई आदि संतों की गणना की जाती है। सभी संतों ने आध्यात्मिकता के साथ समाज में व्याप्त सामाजिक

बुराइयों को अपना विषय बनाया और समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। इन्होंने समाज में व्याप्त सभी मत-मतांतरों की कुरीतियों, अंधविश्वासों और सच्चे धर्म की विरोधी रूढ़ियों का खंडन किया। इन्होंने पशु बलि, तीर्थ, व्रत, छापा, तिलक, रोजा, नमाज, हज आदि आडंबरों और कर्मकांडों तथा पाखंडों के लिए फटकारा। इसी प्रवृत्ति के कारण कबीर को तो कोप भाजन बनना पड़ा था। उन्होंने उन लोगों की निंदा भर्त्सना तथा सक्रिय विरोध किया, जो धर्म संप्रदाय और जातियों के ठेकेदार बने हुए थे। यह सारा कार्य उन्होंने समाज के प्रति अपना निरपेक्ष दृष्टिकोण बनाकर किया था।

उस युग में सामाजिक व्यवस्था का मेरुदंड वर्ण व्यवस्था थी और वर्ण व्यवस्था का पोषण धर्म के द्वारा हो रहा था। सारे सामाजिक राजनीतिक निर्णय का आधार धर्मशास्त्र था, लेकिन देश की साधारण जनता का एक बड़ा हिस्सा किसी भी प्रकार के धार्मिक अधिकारों से वंचित था। धर्म स्थान से लेकर सभी तरह के पूजा पाठ तथा मंदिर प्रवेश उनके लिए वर्जित थे ऐसी स्थिति में संतों ने निर्गुण उपासना का मार्ग प्रशस्त कर उत्पीड़ित दलित लोगों के लिए धर्म और उपासना का द्वार खोल दिया। संतों की निर्गुण उपासना एक ऐसा मार्ग था जिसमें न तो मूर्ति की आवश्यकता थी, न मंदिर की, न तिलक छापा की जरूरत थी और न ही भगवा वस्त्र धारण करने की। धर्म साधना के उनके अधिकार की प्राप्ति के साथ पिछड़ी हुई नीच समझी जाने वाली जातियों में आत्मविश्वास जगाकर संतों ने उन्हें सामाजिक समानता के प्रति जागरूक किया।

संतों में सर्व प्रमुख कबीर दास जी हैं। कबीरदास ऐसे महान विचारक हैं, जो शताब्दियों की सीमा का उल्लंघन कर दीर्घकाल से भारतीय जनता का पथ आलोकित कर रहे हैं। कबीर न तो मात्र सामाजिक सुधारवादी थे और न ही धर्म के नाम पर विभेदवादी, अपितु वे आध्यात्मिकता की सार्वभौम आधारभूमि पर सामाजिक क्रांति के मसीहा थे। ये समाज में व्याप्त शोषक-शोषितों का भेद मिटाना चाहते थे। जाति प्रथा का विरोध करके ये मानव जाति को एक दूसरे के समीप लाना चाहते थे।

'एक बूंद एकै मल मूत्तर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति के सब उत्पन्ना, कौन बामण कौन सूदा।।' [2]

कबीर दास को जाति वर्ण पर भेदभाव स्थापित करने के लिए जो जिम्मेदार नजर आते हैं उन सब का वे डटकर विरोध करते हैं। चाहे वह वेद हो व कुरान, मंदिर हो या मस्जिद, पंडित हो या मौलवी। कबीरदास के विषय में डॉक्टर रामविलास शर्मा ने कहा है– 'भक्ति आंदोलन किसी एक वर्ग का आंदोलन नहीं था उसमें किसान, शिल्पकार, व्यापारी आदि सभी शामिल थे। वास्तव में भक्ति आंदोलन सामंती व्यवस्था से पीड़ित और उससे मुक्ति के लिए छटपटाते संघर्षशील सभी वर्गों का व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन था। यदि यह कहें कि कबीर इस आंदोलन के नेता थे तो कोई आतियुक्ति नहीं होगी।' हिंदु-मुसलमानों तथा सभी जातियों में परस्पर प्रेम स्थापित करना ही कबीरदास जी का उद्देश्य रहा। इन्होंने अत्यंत तीखे स्वरों में इस भेदभाव को निर्मूल करने का भरसक प्रयत्न किया और अपने गुरु स्वामी रामानन्दजी की इन पंक्तियों का अनुसरण किया– ***'जाती-पाँति पूछे नहीं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।।'*** कबीर दास जी ने मूर्ति पूजा और किसी स्थान विशेष पर ही इबादत का विरोध किया-

'पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहाड़।
ताते या चाकी भली पीस खाय संसार।।'
'काँकर पाथर जोरि करि मस्जिद लइ चिनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे बहिरा हुआ खुदाय।।'

मध्यकालीन काव्य परंपरा में दादू दयाल भी निश्चित रूप से एक गौरवमयी विभूति हैं। कबीर की तरह दादू का काव्यत्व लोकमानस में अब तक जीवित है। दादू ने भी अपने काव्य में सामाजिक विसंगतियों के विषय में लिखा है। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक आडम्बरों और साधना संबंधी विचारों पर आघात किया किंतु अपने नम्र स्वभाव के कारण कभी उग्र नहीं हुए। डॉ. रामकुमार वर्मा ने लिखा है – 'दादू इतने अधिक दयालु थे कि लोग इन्हें दादू दयाल के नाम से पुकारने लगे।।'[3] दादू दयाल ने एक पद में अपने आप को कमीण कहकर पुकारा है। यह उन्होंने नम्रतावश ही नहीं कहा बल्कि सवर्णों द्वारा नीच समझे जाने वाली जातियों के व्यक्तियों को पुकारे जाने वाले नाम को प्रकट किया है और प्रकारान्तर से सवर्णों की अवज्ञापूर्वक निंदा भी कर दी – 'कौन आदमी कमीण विचारा, किसको पूजै गरीब पिंजारा।।'[4] डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दादू दयाल के बारे में लिखा है– 'इनके स्वभाव में मधुरता अधिक थी। सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रुढ़ियों और साधना संबंधी मिथ्याचारों पर आघात करते समय दादू कभी भी उग्र नहीं होते थे। अपनी बात कहते समय बे बहुत नम्र दिखते थे।'-[5] दादूदयाल की कविता में लोक चिंता झलकती है। धार्मिक समरसता इनके काव्य का उद्देश्य रहा है– ***'जोगी जंगम से बड़े, बौध सन्यासी सेख।***
षट् दर्शन दादू राम बिन, सबै कपट के भेख।।'

समाज में फैली बुराइयों को मिटाने में संत रैदास का भी बहुत बड़ा योगदान रहा है। संत रैदास को मूर्ति पूजा और तीर्थ सेवन जैसे दिखावे में कोई विश्वास नहीं था। उन्होंने परस्पर मिल-जुलकर प्रेम से रहने के लिए उपदेश दिया– ***'जात पात में जात है, जो केलन की पात, रविदास न मानुष जुड़ सकैं, जो लौं जात न जात।।'*** [5]

रैदास ऐसे आदर्श समाज की परिकल्पना करते हैं जिसमें धर्म के नाम पर बाह्यडम्बर व धार्मिक कुरीतियां ना हो। जहां जाति-पांति का भेदभाव ना हो, सभी बराबर हों, उंच-नीच का भेद समाप्त हो जाए– ***'एकै माटी के सभै भांडे, सबका एकै सिरजनहार। रैदास व्यापे एकों घट भीतर, सब को एकै घड़ै कुम्हार।।'***[6]

मलूकदास जी ने अपनी कविता के माध्यम से समाज में सामाजिक समरसता का संदेश दिया- ***सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जंतु मोहिं लगैं पियारे। तीनो लोक हमारी माया। अंत कतहुं से कोई नहिं पाया।।'***

संत सहजोबाई ने प्रेम, साधना और सदाचरण पर बल देकर समाज में पथभ्रष्ट मानव को विश्वबंधुत्व के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया– ***'प्रेम दिवाने जो भए, पलटि गयो सब रूप। सहजो दृष्टि ने आवई, कहा रंक कहा भूप।।'***

संत दयाबाई ने परमात्म तत्व की साधना करते हुए समाज में व्याप्त सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए अचल रूप से डटे रहने का संदेश दिया है– **'सूरा सनमुख समर में, घायल होत निशंक। जो यों साधू संसार में, जग के सहे कलंक।।'** इस प्रकार से सभी संतो ने सामाजिक संदर्भों पर लिखा और सामाजिक कुरीतियों बाह्यडम्बरों आदि का विरोध किया।

सारांशतः कह सकते हैं कि भक्ति काल के संत द्रष्टा थे, वे समाज के भीतर घुस कर उसकी विकृतियों को पहचान कर सही इलाज करने को समाज को प्रेरित करते थे। उन्होंने आज से वर्षों पूर्व के समाज को वैज्ञानिक आधार पर खड़ा करने का संकल्प किया था। धर्म के नाम पर प्रचलित तीर्थ, व्रत, हज, रोजा, नमाज, मूर्ति पूजा, कर्मकांड आदि बाह्याचारों को व्यर्थ घोषित किया और अंतर साधना का मार्ग प्रशस्त किया। वे समाज के आगे चलकर उसे नेतृत्व देने की क्षमता रखते थे। वे जनसमूह को न केवल व्यंग बाण या फटकार के द्वारा सही मार्ग पर लाना चाहते थे वरन सच्चे उपदेशों एवं मधुर वाणी के द्वारा भी पथ प्रदर्शन करना चाहते थे। इसलिए एक और जहां उनकी वाणी में अमृत के समान मिठास और सहज बोध है, वहीं दूसरी और पथभ्रष्ट करने वालों के लिए व्यंगवाणों के प्रयोग में निर्भीकता थी।

संत काव्य धारा का उद्देश्य केवल कविता करना न होकर तत्कालीन समाज, विशेषकर धार्मिक समाज के लिए दार्शनिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का सृजन करना था। इनमें कबीर जैसे प्रचंड प्रतिभाशाली साधक अपनी प्रतिभा और सहज अभ्यास के बल से बड़े-बड़े ज्ञानी पंडितों को लक्ष्य करके भी अपनी बात कहते थे। इस संदर्भ में डॉक्टर पारसनाथ तिवारी का मत उचित है– 'सच्ची बात यह है कि हिंदी साहित्य में कबीर से बड़ा मानवतावादी कोई नहीं हुआ। उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित समस्त अंधविश्वासों, रूढ़ियों तथा मिथ्या सिद्धांतों द्वारा प्रचारित सामाजिक विषमताओं का मूलोच्छेद करने का बीड़ा उठाया और निर्भयता पूर्वक सभी पाखंडों पर प्रहार किया।।' वस्तुतः संतों ने समाज में सामाजिक न्याय की मांग की और कहा कि समाज में जन्म के आधार या विरासत के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करना चाहिए, सभी को उनकी योग्यता व श्रम के आधार पर प्रगति करने का अवसर मिलना चाहिए। वर्णवाद या जातिवाद पर प्रहार करते हुए रैदास ने सही कहा कि–'जात-पांत के भेदि में उलझे रहे सब लोग।।'

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपरबैक्स प्रकाशन 40 वां संस्करण। 2. कबीर ग्रंथावली, संपादक डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोक भारती प्रकाशन। 3. हिंदी साहित्य की भूमिका, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर मुंबई 1989। 4. हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, डॉ. रामकुमार वर्मा। 5. दादू दयाल ग्रंथावली, पृष्ठ संख्या 455। 6. रैदास परचई-पद।

■

(शोधार्थी- हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर)।
श्री प्रह्लाद कुमार शर्मा, एफ.सी.आई. गोदाम रोड,
सैनिक नगर, गंगापुर सिटी,
जिला-सवाई माधोपुर (राज.) 322201
मो. 6375392710

संत परम्परा में कबीर का विद्रोही स्वर

डॉ. शर्मीला

अज्ञानांधकार में भटक रहे मनुष्यों के लिए संत ज्योतिर्मय दीपक की भांति पथ-प्रदर्शन करते हैं। लौ का प्रकाश तो मात्र तिमिर में ठोकर खाने से बचाता है, परन्तु संत व्यक्ति को संसार में औंधे मुंह गिरने से बचाते हैं। किसी भी विचलित कर देने वाली परिस्थिति में साधारण मनुष्य का मानसिक संतुलन डगमगा सकता है, किन्तु संत उसे भी सामान्य रूप में लेते हैं। यह अडिग रहने की प्रवृत्ति, परोपकार एवं जनकल्याण की भावना ही किसी समाज, देश तथा संस्कृति को सुदृढ़ बनाती है। संतों के चरित्र में दया, मानवीय करुणा एवं औदार्य के रत्न विभूषित है इसी कारण भारत की भूमि सुसज्जित है।

'संत' प्रायः किसी सज्जन, सदाचारी व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है। सत की धार पर चलने वाले को संत कहा जाता है। कालिदास के तंसंतः श्रोतुर्मन्ति सद्सद्वयक्तिहेतवः। हेम्नाः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापिवा।।20।।[1] में भी सत और असत के मध्य अंतर रखने वाले को संत माना गया है। संतों का स्वभाव कालिदास के मतानुसार अग्नि के समान होता है। संतों का विवेक अग्नि के समान प्रचंड होता है जो शुद्धता और अशुद्धता की पहचान करता है। जिस प्रकार अग्नि के द्वारा स्वर्ण शुद्ध होकर निखरता है उसी प्रकार संतों के सान्निध्य में मनुष्य का चरित्र उज्ज्वल हो उठता है। इस प्रकार सत्य रूपी अग्नि के पथ पर अग्रसर होने वाला मनुष्य ही संत है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के उतरकांड में संतों-असंतों की करनी के माध्यम से संतों के लक्षण व्याख्यायित किये हैं-

संत असंतन्ह कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी
काटन परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई।।[2]

अर्थात् संतों व असंतों का व्यवहार ऐसा होता है जैसे कुल्हाड़े और चंदन का बर्ताव। भाई सुनो! कुल्हाड़ा तो स्वाभावानुसार चंदन को काट डालता है पर चंदन अपना गुण देकर उसके बदले में कुल्हाड़े को सुवासित कर देता है। ऐसे ही दुर्जन सर्वनाश करने का यत्न करते हैं फिर भी संत उनकी भलाई ही करते हैं। यह बड़प्पन की भावना ही संतों की पहचान है। परन्तु साहित्य में संत शब्द का अर्थ संकुचित हो गया। आज इसका अभिप्राय पारिभाषिक अर्थ में निर्गुणमार्गियों से लिया जाता है। इनके रचित साहित्य संत-साहित्य की श्रेणी में आता है। संतों ने अपनी ओजस्वी वाणी के माध्यम से जड़, मूढ़ और आगतिक निराश अवस्था से जनता को मुक्त किया। संतों की विचारधारा मूलतः मानवता के धरातल पर विद्यमान थी; वह किसी समन्वय की सोची-समझी रणनीति नहीं थी। संतों के आंदोलन का कार्यक्षेत्र धार्मिक-सांस्कृतिक होने के साथ-साथ सामाजिक भी था।

उन्होंने लिंग तथा जातिगत असमानता के व्यवहार पर मूलभूत प्रहार किया। सामाजिक ढोंग का विरोध, तीव्र व्यंग्य द्वारा दंभस्फोट, सहजयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों का अक्खड़पन

और दृष्टकूट उलटबाँसी या 'संध्या' भाषा का प्रयोग, अंतर साखी में व्यक्त अहंकार शून्य, षट्चक्र का प्रयोग आदि निर्गुण संतों में पायी जाने वाली सामान्य बातें हैं।[3] अपवादस्वरूप कुछ को छोड़कर संतों की साहित्यिक भाषा में शास्त्रीय दृष्टि से सौंदर्य के दर्शन नहीं होते। संतों को सिद्धों की प्रतीकात्मक शैली, अनपढ़ भाषा नाथों के माध्यम से विरासत के तौर पर प्राप्त हुई। यह अलग बात है कि उसका उग्र रूप संतों में आकर पल्लवित हुआ।

संत-साहित्य का हिंदी साहित्य में विशेष योगदान है। संतों की वाणी से समाज को नवीन चेतना प्राप्त हुई। संतों ने अपने विचारों के माध्यम से समाज में हो रहे अन्याय एवं अत्याचारों का विरोध किया। यूं तो यह व्यवस्था के प्रति विद्रोह की ध्वनि सम्पूर्ण संत-साहित्य में सुनाई देती है किन्तु कबीरदास की वाणी में इसकी गूंज अधिक मारक है। उनके विचारों में तो तीखापन है ही, भाषा में भी एक पैनापन है। उन्होंने पाखंडों के विरुद्ध मोर्चा खोलते हुए अशिक्षित व शोषित समाज को जागरूक करने का प्रयास किया। स्वार्थी तत्वों द्वारा निम्न कह कर जिनका शोषण किया जाता था, कबीर ने उनके भीतर जाति को लेकर स्वाभिमान की भावना जागृत की। उनकी वाणी की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उनके विचार वर्तमान समय में पूर्णतः प्रासंगिक हैं। संत परम्परा में उनका स्वर शोषण एवं सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध अधिक विद्रोही है। निर्गुण भक्ति धारा में कबीर का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। इनके जन्म एवं मृत्यु के संबंध में सभी विद्वान एकमत नहीं हैं। किवदंती के अनुसार ये नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पति को लहरतारा जलाशय के निकट प्राप्त हुए थे और उन्होंने ही इनका पालन-पोषण किया। इनके जन्म स्थान के विषय में भी तीन मत प्रचलित हैं- मगहर, काशी और बेलहरा गांव (आजमगढ़)। गुरु ग्रंथ साहब में एक पद आया है जो इनका जन्म मगहर में होने की पुष्टि करता है- ***पहिले दरसन मगहर पाइओ फुनि कासी बसे आई।***[4]

काशी में ये रहे थे जिसके प्रमाण इनकी रचनाओं में भी मिलते हैं, किन्तु बेलहरा में न तो वास करने के प्रमाण मिलते हैं न ही जन्म के। किवदंती के अनुसार रामानन्द को इनका गुरु माना जाता है जिनके मुख से निकले राम शब्द को इन्होंने गुरु द्वारा प्रदत्त मंत्र माना। इन्होंने अपनी साधना का आधार राम नाम को बनाया जो दशरथ पुत्र राम नहीं, बल्कि निर्गुण राम हैं। कबीर के ब्रह्म को अनेक नामों से पुकारा है, उनका ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अचिंत्य, अनिर्वचनीय और अव्यक्त है। वे बड़े स्पष्ट रूप से निरंजन को अपना आराध्य घोषित करते हैं- ***एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरक दहू नहीं मेरा।।***[5]

ब्रह्म से साक्षात्कार करने में माया बहुत बड़ी बाधा है। कबीर ने इसे जगह-जगह मोहिनी, ठगिनी, दीपक आदि प्रतीकों से चिह्नित किया है। गुरु की कृपा से ही जीवात्मा का उद्धार हो सकता है, उसी के सानिध्य से वह माया रूपी भ्रम से निकलकर आत्मज्ञान प्राप्त कर सकती है। लेकिन ऐसे बिरले ही होते हैं जो संसार सागर से पार उतर जाते हैं— माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवै पड़ंत। कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत।।[6] कबीर ने गुरु और परमतत्व को एक माना है। गुरु की कृपा से ही ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है। गुरु एवं परमात्मा को एक बताते हुए कबीर इस शरीर को दूसरा बताते हैं- ***गुरू गोविंद तौ एक हैं, दूजा यहु आकार।***[7]

कबीर का दर्शन अद्वैत वेदान्त के अधिक निकट है। वे आत्मा और परमात्मा को भिन्न नहीं मानते किन्तु माया इस एकता में भ्रम उत्पन्न करके अवरोधक का कार्य करती है। जिस प्रकार कुंभ में जल है और बाहर-भीतर चारों ओर पानी ही है और जब वह फूटता है तो जल जल के भीतर समा जाता है इसी तरह परमात्मा, काया और आत्मा है—***जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी। फूटा कुंभ जल जलहिं समानां, यह तत कथौ गियानी।।***[8]

परमात्मा और आत्मा दोनों में भेद माया के कारण है, ज्ञानचक्षु के खुलते ही जीव की अज्ञानता दूर हो जाती है और वह अपने विस्तृत स्वरूप को पहचानने लगता है। वह परमतत्व घट-घट में व्याप्त है, उसकी सत्ता को जानने के लिए ज्ञान, भक्ति और योग सभी असमर्थ हैं, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वह तो केवल स्वानुभूति का विषय है जिसका रस भीतर-ही-भीतर लिया जा सकता है। कबीर की भाषा में अपनी सत्ता और ब्रह्म की सत्ता को लेकर एक तरह से क्रांति का स्वर है जिसमें

वे अपनी सत्ता को नश्वर तभी मानते हैं जब ब्रह्म की सत्ता नश्वर हो- ***हरि मरिहैं तौ हमहूं मरिहैं, हरि न मरै हँम काहे कूँ मरिहैं।***[9]

भक्ति में ये कभी राम की बहुरिया बन जाते हैं तो कभी उनके विरह में पुत्र बन जाते हैं। इनकी व्यक्तिगत साधना में आत्मिक साधना के अतिरिक्त योग-साधना का समावेश भी हुआ है जो निःसंदेह नाथों का प्रभाव है, किंतु उन्होंने इसे उसी रूप में ग्रहण नहीं कर लिया है, उसके सहज पक्ष को आत्मसात किया है। ये योगियों को इसी बात के लिए लताड़ लगाते हैं कि वे करनी और कथनी में सामंजस्य नहीं रखते बल्कि हठयोग में ही उलझे रहते हैं, इससे योग की सिद्धि नहीं होती। योग की सिद्धि तो मन में मुद्रा और आसन धारण करने से होती है- ***तन कौं जोगी सबी करै, मन को बिरला कोई। सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होइ।।***[10]

बाह्य कर्मकाण्डों से मुक्ति प्राप्त नहीं होती, उसके लिए आंतरिक शुचिता की आवश्यकता होती है जो मनोविकारों के परिष्कार से ही संभव है। इस प्रकार कबीर ने मन के जोगी को सच्चा जोगी कहा है और उनका योग भक्ति को साथ लेकर चलता है। योग साधना के ज्ञाता होते हुए भी ये सहज साधना को महत्व देते हैं जिसमें आसन, ध्यान और वेशभूषा सभी साधक के अंतर में ही विद्यमान रहते हैं और प्रवृत्ति मार्ग पर चलते हुए भी मन निवृत्ति की ओर गमन करता रहता है। इस सहज साधना को साधने के लिए मन की वृत्तियों का परिष्कार आवश्यक है और वही सब सिद्धियों को सहजता से पा सकता है जिसका मन योगी है। इनकी साधना में नाम स्मरण को अधिक महता दी गई है। राम का नाम ही एक मात्र साधन है जो आवागमन से छुटकारा दिला सकता है- ***राम नाम बिन नरक न छूटै, जै धोवै सौ बारा।।, का नट भेष भगवा बस्तर, भसम लगावै लोई।।***[11]

नाना प्रकार के वस्त्र धारण कर लो या भस्म लगा लो, जीव की मुक्ति तो राम नाम के स्मरण से ही संभव है। ऊपर-ऊपर से वेश धारण करने से सत्य को नहीं जाना जा सकता उसके लिए आत्मिक साधना की आवश्यकता है। **भक्ति के क्षेत्र में तो इन्होंने समन्वय स्थापित किया ही, हिन्दू और मुस्लिम धर्म में समन्वय करके तत्कालीन समाज में वैर भावना को भी दूर करने का प्रयत्न किया जो सराहनीय है। इनका स्वयं को न हिन्दू न मुसलमान कहना सामरस्य स्थापित तो करता ही है दूसरी तरह योगियों की ओर भी संकेत करता है जो न तो जाति का भेद स्वीकार करते हैं और न ही मजहब का।** उन्होंने सूफियों के प्रेमतत्व को भी लिया और निर्गुण साधना को शुष्क भूमि से बचाया। कबीर कभी राम के विरह में बहुरिया बन जाते हैं तो कभी बालक। कबीर इस विरह को बुरा नहीं कहते बल्कि सुलतान कहते हैं और जिस घट में यह नहीं विचरता उसे श्मशान की संज्ञा देते हैं। राम की राह देखते-देखते आँखें मंद पड़ जाती हैं और जीभ पर नाम पुकारते-पुकारते छाले पड़ जाते हैं- ***अंषड़ियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि। जीभड़ियाँ छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि।***[12]

कबीर ने हिन्दू हो चाहे मुसलमान, दोनों को ही कड़ी फटकार लगाई है जो मजहब के बाह्य रूप और प्रतीक तो धारण करते हैं किन्तु हृदय से परमात्मा का नाम नहीं लेते। सच्चा हिन्दू और सच्चा मुसलमान तो वही है जिसका ईमान कायम हो। माथे पर लंबा तिलक और छापा लगाने से कोई हिन्दू कहलाने का अधिकारी नहीं बन जाता है, ये सिर्फ भ्रमित करने वाले साधन हैं जो औरों को पर्दे में रख सकते हैं, किन्तु स्वयं को नहीं। पांच वक्त की नमाज और हज इत्यादि भी व्यर्थ हैं यदि हृदय में दया नहीं है। मस्जिद में अल्लाह को पुकारना और जीवों की हत्या करके जिह्वा की तुष्टि करना, दोनों ही विपरीत दिशाएं हैं जिन पर चलकर खुदा तक नहीं पहुंचा जा सकता- ***काजी मुलाँ भ्रमियां, चल्या दुनी कै साथि। दिल थें दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि।।***[13]

कबीर ने तीर्थाटन का भी बड़े ओजस्वी स्वर में विरोध किया है, चाहे वह हिन्दू हो या मुस्लिम धर्म। राम या अल्लाह मनुष्य के घट में ही मौजूद है किन्तु वह उसे बाहर खोजता फिरता है। अपने मन को उलटकर अन्तर्मुखी करके भीतर ही उसकी खोज करनी चाहिए, बाह्य परिवेश तो जंगल की भांति है जिसमें ईश्वर रूपी कस्तूरी के पीछे पागल हुआ जीव रूपी मृग भटकता रहता है- ***पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकामों। दिल ही खोजि दिलै दिल भीतरि, इहां राम रहिमॉनों।।***[14]

इन्होंने समाज में व्याप्त पाखंडों का खंडन बड़ी ही सटीक भाषा में किया है। पाखंडों के कुचक्र में जकड़ी जनता को निकालने के लिए इन्होंने अनेक तर्क दिए, ब्राह्मणवाद के शिकंजे में फंसे लोगों को उनके अस्तित्व के प्रति जागरूक किया और उन्हें यह अहसास दिलाया कि वे भी उसी परम सत्ता का अंश हैं। सभी एक ही ज्योति से उत्पन्न हुए हैं फिर ब्राह्मण कौन है और शूद्र कौन- ***एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा। एक जोति थैं सब उतपनाँ, कौन बाँम्हन कौन सूदा।।***[15]

एक तरह से यह भक्ति के माध्यम से सामंती समाज के प्रति युद्ध का आरंभ था जिसका कबीर ने सशक्त रूप में नेतृत्व किया, किन्तु उनके पश्चात् पंथ की स्थापना ने इसे बुझा दिया। इन्होंने समाज की प्रत्येक रूढ़ि का न केवल वर्णन किया, बल्कि उसका विरोध भी किया। प्रेम का तत्व विद्यमान होते हुए भी कबीर ने भक्ति में गलादश्रु भक्ति का समावेश नहीं होने दिया। उनकी भक्ति लोकधर्म से विमुख नहीं है जिस तरह के आरोप निर्गुण कवियों पर लगाये जाते रहे हैं। कबीर की क्रांतिधर्मी छवि के पीछे सिद्धों-नाथों का विशेष प्रभाव तो कार्य करता ही है, उनकी एक अक्खड़ शक्सियत भी उभर कर सामने आती है जो उनके परिवेश की उपज है। स्वयं को जुलाहा कहलाना उनके लिए गौरवान्वित करने वाली बात है, इसको लेकर उनके भीतर हीन भावना जन्म नहीं लेती, हालांकि वे कर्म-पक्ष को भी स्वीकार करते हैं- पूरब जनम हम ब्राँह्मन होते, पाछें करम तप हीनाँ। राँम देव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हाँ।।[16]

जहां तक स्वाभिमान का प्रश्न है, कबीर बड़े स्पष्ट शब्दों में स्वयं को जुलाहा कहते हैं और अपने ज्ञान के विषय में ब्राह्मण को अनभिज्ञ बताते हैं। इसके पीछे उनकी चेतना ही कार्य करती है जो स्वयं के ज्ञान को ब्राह्मण के कर्मकांडी मस्तिष्क से कोसों दूर पाती है- ***तूँ ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, चिन्हि न मोर गियाना। तैं सब मांगे भूपति राजा, मोरा राम धियाना।***[17]

यदि उपर्युक्त पुनर्जन्म वाले उदाहरण पर विचार करें तो कबीर की ब्राह्मण कुल में जन्म लेने की लालसा तो कतई दिखाई नहीं देती, इसके पीछे उनका मंतव्य ब्राह्मण को चेताना रहा होगा यह बात भी पूरी तरह से गले नहीं उतरती। पुनर्जन्म के झांसे में डालकर निम्न समझी जाने वाली जाति और वर्गों का कहीं-न-कहीं शोषण ही अधिक किया गया है। किसी को यह यकीन करने के लिए विवश करना कि उनके शोषण और परिस्थिति के जिम्मेदार उच्च वर्ग नहीं; उनके कर्म हैं, षड्यंत्र का कुचक्र है जो दबे लोगों को और दबाने के लिए रचा गया।

कबीर के विचारों की तीक्ष्णता उनकी भाषा-वाणी में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। उनके जैसा गलत को गलत कहने का ढंग व वाणी का तलवार-सा पैनापन संत-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। समाज में जाति व्यवस्था के जटिल हुए रूप के कबीर स्वयं भुक्तभोगी थे जिस कारण वे जन्म आधारित इस शोषण व्यवस्था का कठोर शब्दों में विरोध करते नजर आते हैं। उनके तेजस्वी स्वर में एक जर्जर व्यवस्था के प्रति उठता आक्रोश शोषित वर्ग में उठ खड़े होने का विश्वास तो भरता ही है, उसे अपनी जमीन तलाशने में भी सहायता करता है। हालांकि, संत-साहित्य में पाखण्डों एवं कुरीतियों के विरुद्ध स्वर विद्यमान है, किन्तु जैसा सीधा-सपाट और मारक प्रभाव कबीर की भाषा में है उसकी तुलना किसी अन्य संत से नहीं की जा सकती।

संदर्भ :

1. कालिदासविरचितम रघुवंशम प्रथम सर्ग, पृ.7। **2.** श्रीरामचरितमानस, पृ. 448। **3.** माचवे, डॉ. प्रभाकर- हिंदी और मराठी का निर्गुण संत काव्य, पृ. 57। **4.** तिवारी, पारसनाथ, कबीर-वाणी संग्रह, इलाहाबाद, राका प्रकाशन, 17वां संस्करण 2010, पृ.5। **5.** दास, डॉ. श्यामसुंदर (संपा.), कबीर ग्रंथावली, वाराणसी, नागरीप्रचारिणी सभा, 14वां संस्करण 1977, पृ. 152। **6.** पूर्ववत्. पृ. 2। **7.** पूर्ववत्. पृ. 3। **8.** पूर्ववत्. पृ. 80। **9.** पूर्ववत्. पृ. 36। **11.** पूर्ववत्. पृ. 154। **12.** पूर्ववत्. पृ. 7। **13.** पूर्ववत्. पृ. 33। **14.** पूर्ववत्. पृ. 131। **15.** पूर्ववत्. पृ. 82। **16.** पूर्ववत्. पृ. 129। **17.** पूर्ववत्. पृ. 128।

■

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय, हिसार
मो. 8847373622

भ्रष्टाचार पर राजनीति का घूंघट : कटरा बी आर्ज़ू

मधुस्मिता दास

भ्रष्टाचार का स्तर इस सीमा तक पहुंच गया है कि नेता गण संवैधानिक नियमों के माध्यम से भी साधारण जनता के हित के बजाए, उनका शोषण करके अर्थ-उपार्जन में तत्पर रहते हैं। देश में सत्ताधारी राजनीतिक अत्याचारों के खिलाफ अनेक प्रकार के स्वर उठने के साथ-साथ साहित्यकारों ने भी इन अत्याचारों के प्रति साहित्य के माध्यम से स्वर प्रखर करने लगे। भारतेंदु हरिश्चंद्र, मुंशी प्रेमचंद, रामधारीसिंह दिनकर, भीष्म साहनी, राही मासूम रजा जैसे प्रमुख साहित्यकारों ने साहित्य के माध्यम से इन शोषणकर्ताओं के दुराचार को उजागर करने के लिए सशक्त प्रयास किया। राजनीतिक भ्रष्टाचारियों के अनैतिक-आचरण के विरुद्ध प्रगतिशील उपन्यासकार डॉ. राही मासूम रजा ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्वर मुखर किया था। इसका तीव्र रूप उनके प्रत्येक उपन्यास में साफ-साफ देखने को मिलता है।

राही मासूम रजा की साहित्यिक विशेषता पर प्रकाश डालते हुए हिंदी साहित्य के प्रमुख आलोचक डॉ. रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं कि 'राही मासूम रजा उन इने-गिने लेखकों में हैं, जो धर्म और संप्रदाय से उठकर मानवीय धरातल पर चीजों को देखने में विश्वास करते हैं। राही को अपने देश की धरती से बेहद प्यार है। उन्होंने अपने प्रायः प्रत्येक उपन्यास में देश के विभाजन का विरोध किया है। उनके सभी उपन्यासों में कुछ बातें सामान्य रूप से देखी जा सकती हैं। वतन का प्रेम, धर्म और संप्रदाय के कृत्रिम भेद-भाव का विरोध, सहज मानवीय संवेदना में विश्वास, जिजीविषा में आस्था और आशावाद, गरीब जनता के दुख-दर्द के प्रति गहरी सहानुभूति तथा स्वतंत्र भारत में होने वाले सांस्कृतिक मूल्यों के क्रमिक ह्रास के प्रति चिंता, ये खास मुद्दे हैं, जो राही मासूम रजा के उपन्यासों में बार-बार उठाये गये हैं।'[1] इन समस्याओं के अलावा राही ने राजनीति के माध्यम से फैली भ्रष्टता की समस्या को भी प्रमुख रूप से उठाया है। राही की लेखनी में जितनी सशक्तता थी उसके विपरीत उनका भावुक हृदय था, नम्र स्वभाव था। सांप्रदायिक भावना से उनका चित्त झकझोर उठता था। इसके विरुद्ध वे कलम के माध्यम से आवाज उठाते रहे। उनकी कथनी और करनी में कोई फर्क नहीं था, जो लिखते थे वह करते भी थे। राजनीति के माध्यम से सांप्रदायिकता जैसी भ्रष्टित भावना फैलती जा रही है, राही मासूम रजा ने इसे जड़ से समाप्त करने के लिए खूब लिखा और पाठकों को राजनीति के असली चेहरे से रु-ब-रु कराया।

राजनीतिक भ्रष्टाचार पर लिखित उनका प्रमुख उपन्यास 'कटरा बी आर्ज़ू' (1978) में इसका ज्वलंत चित्रण है। उपन्यास के संदर्भ में आलोचना करते हुए हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक श्री कुंवरपाल सिंह का कथन है कि- 'इमरजेंसी व इसके बाद जनता व सरकार के समय को अभिव्यक्त करनेवाली रचना है। अनेक रूपों में राजनीतिक रचना होते हुए भी इस उपन्यास के कथा-अंश

में कमी नहीं है। उपन्यास में इंदिरा गांधी द्वारा इमरजेंसी लागु किए जाने तथा उस समय में जनता पर किए गए अत्याचारों, भ्रष्टाचारों के उद्घाटन द्वारा भारतीय समाज के ऐतिहासिक दौर को दस्तावेजी रूप में प्रस्तुत किया गया है। आपातकाल के समय सारी मानवीय गरिमा और नागरिक अधिकारों पर रोक लगा दी गई। देश के अधिकांश बुद्धिजीवी और लेखक मौन हो गए। विरोध करना तो दूर उन्होंने लिखना ही बंद कर दिया। राही ने उस समय लिखा था– ***रोशनाई के लिए अपने को बेचा कि हम/ ताकि सिर्फ इसलिए कुछ लिखने से बाकी ना रहे/ कि कलम खुश्क थे और लिखने से मजबूर थे हम।***

इस उपन्यास में हर बड़े शहर में निवास कर रहे हर उस आम आदमी की कहानी है जो जीवनयापन करने के लिए सपने संजोता है, उन सपनों को साकार करने के लिए जी तोड़ मेहनत करता है पर जिस पल वह सफलता की मंजिल के करीब होता है, उसके सभी अधिकारों का हनन कर लिया जाता है, उसके सभी सपनों पर पानी फेर दिया जाता है और उसके जीवन में अंधेरा व्याप्त हो जाता है। देश की किसी भी सामाजिक राजनीतिक प्रतिक्रिया से मात्र सर्वहारा, सामान्य वर्ग ही प्रभावित होता है जबकि नेता और साधन-संपन्न लोग इमरजेंसी जैसी परिस्थितियों का भी फायदा उठाने से नहीं चूकते। इस उपन्यास में राही ने व्यंग्यात्मक प्रहार करके सामाजिक स्थिति को प्रस्तुत किया है।[2]

'कटरा बी आर्ज़ू' उपन्यास में तत्कालीन समय के राजनीतिक शोषण एवं अत्याचार का जीवंत चित्रण तथा राजनीति के कारण सांप्रदायिक वैमनस्यता का चित्रण देखने को मिलता है। राही मासूम रजा परिस्थितियों का केवल यथार्थ चित्रण ही प्रस्तुत नहीं करते हैं अपितु उनके कारण उपज रही समस्याओं के चित्रण के साथ साधारण जन को जागरूक बनाने के लिए भी प्रयासरत दिखते हैं। वे देश को सांप्रदायिक भेद-भाव की भावना से निकाल कर एकता के सूत्र में बांधने के लिए कृत संकल्प दिखाई देते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में भारतीय न्यायालय व्यवस्था के खिलाफ उंगली उठाई गई है तथा 1975 से लेकर 1977 तक इंदिरा गांधी द्वारा लगाए गए आपातकाल के कारण फैली यातनामय स्थितियों का राही ने बड़ी तटस्थता से वर्णन किया है।

कटरा बी आर्ज़ू उपन्यास के कथानक पर आलोकपात करते हुए हिंदी के विद्वान आलोचक श्री राकेश नारायण द्विवेदी लिखते हैं कि 'इस उपन्यास में आम आदमी के प्रतिनिधि के रूप में देशराज और बिल्लो को प्रारंभ से उभारा गया है। ये दोनों अपना एक सपना पालते हुए बड़े होते हैं; अपना एक घर होने का सपना। इस सपने को साकार रूप देने के लिए उन्हें जी-तोड़ संघर्ष करना पड़ता है। जब सफलता प्राप्त होने को होती है तो बुलडोजर उसे चकनाचूर कर देता है। अंधेरा; अंधेरा ही रह जाता है। उपन्यास में सर्जनात्मक रूप से आपातकाल की ज्यादतियों, विशेषतः परिवार नियोजन और शहरों के सौंदर्यीकरण के नाम पर भयानक अत्याचारों का कथा-नियोजन किया गया है। आपातकाल के बाद जनतापार्टी-सरकार के दौरान भी पूर्ववर्ती कांग्रेस सरकार के समान रही देश की स्थिति भी उपन्यास में वर्णित है। पं. गौरीशंकर पांडेय जैसे भ्रष्टाचारी नेताओं के कारण दोनों सरकारों में कोई गुणात्मक अंतर नहीं रह जाता।'[3]

'कटरा बी आर्ज़ू' उपन्यास के संदर्भ में डॉ. पूनम त्रिवेदी का कथन है, 'डॉ. राही ने कथा-नायक देशराज के माध्यम से कड़वी सच्चाई का बयान किया है। जिसमें इंदिरा गांधी के गरीबी हटाओ आंदोलन के खोखलेपन से कथा प्रारम्भ होकर उपन्यास के उत्तरार्द्ध में यह सिद्ध कर देती है कि उनकी राजनीति गरीबों को ही हटा देने में निहित है। यद्यपि भारत में प्रजातंत्र है, फिर भी यहां के नागरिकों के अधिकार नगण्य हैं, यहां सारी शक्तियां सत्ताधीशों के हाथों में ही सिमटकर रह गयी है'।[4] सत्ताधारियों का हर काम गरीब और साधारण जनता के नाम पर था परंतु वह केवल पूंजीवादियों के लिए ही लाभदायक था। उपन्यास में राजनीति के संदर्भ में डॉ. पूनम त्रिवेदी का कथन है, 'कटरा बी आर्ज़ू' में समसामयिक राजनीति का चित्रण हुआ है। इसके अंतर्गत विधायकों की दल-बदलू नीति, मंत्री बनने की तीव्र लालसा, राजनीति व प्रशासन के मनमाने भ्रष्टाचार आदि का विवेचन है।[5] मनमानी प्रशासनिक व्यवस्था के कारण देशराज जैसे निरपराध लोगों की जिंदगी तबाह हो जाती है। आशाराम और देशराज मित्र थे। देशभर में इमरजेंसी लगा दी गयी, गिरफ्तारी के भय से आशाराम छिपने लगा। आकाशवाणी

में देशराज नेहरू-वंश की सत्ता का विरोधी था और देशराज इंदिरागांधी का समर्थक था। देशभर में इमरजेंसी लगा दी गयी, गिरफ्तारी के भय से आशाराम छिपने लगा। आकाशवाणी में देशराज, बिल्लो, शमशुमियाँ, पहलवान सबको बुलाकर इमरजेंसी के बारे में तारीफ करने के लिए कहा जाता है और वे सभी बहुत प्रशंसा करते हैं। साक्षात्कार के दौरान देशराज आशाराम को अपना सहचर बताता है। साक्षात्कार के बीच में ही देशराज जब बाहर आता है तो उसे पुलिस द्वारा अपहृत करके बंदी बनाकर उसे पीटा जाता है। देशराज जब पूछता है कि उसका कसूर क्या है, उसे यहां पर क्यों लाया गया है? सवाल के बदले उसे सिर्फ एक सवाल किया जाता है कि आशाराम कहां है? लेकिन वह आशाराम का पता बता नहीं पाता है, फिर पुलिस उसे इतना टार्चर करती है कि उसके हाथ-पैर टूट जाते हैं और वह पागल हो जाता है। पत्नी बिल्लो उसका इंतजार करती रहती है, कई दिन बाद अचानक एक दिन देशराज को जब इस हालत में देखती है तो वह टूट जाती है। कुछ दिनों बाद बस्ती में जब नोटिस दिया जाता है कि सड़क चौड़ी करने के लिए मकान तोड़ा जाएगा। देशराज और बिल्लो के घर के सामने से ही सड़क को चौड़ा किया जाएगा लेकिन बिल्लो मकान खाली करने के लिए राजी नहीं होती क्योंकि वह उसके सपनों का घर था जिसे कड़ी मेहनत करके दोनों ने बनवाया था। जिसके नीचे बिल्लो और उसकी बेटी की हत्या हो जाती है। फिर एक दिन चुनाव जीतने की खुशी में जुलूस निकलता है, उसमें सभी नाचते हैं, पागल देशराज भी बच्चों की तरह ताली बजाकर नाचने लगता है, अचानक उसके हाथों से बैसाखी छूट जाने के कारण वह जुलूस के ट्रक के नीचे कुचलकर मर जाता है।

इस प्रकार 'कटरा बी आर्जू' उपन्यास के कथानक राजनीति तथा प्रशासन के क्रूर अत्याचार, भ्रष्टाचार का यथार्थ चित्रण देखने को मिलता है। उपन्यास के माध्यम से डॉ. राही मासूम रजा की भावना को व्यक्त करते हुए डॉ. जिलेदार सिंह का कथन है, 'किसी देश का भविष्य जब व्यक्ति विशेष के हाथ में आ जाता है तो उस व्यक्ति की महत्वाकांक्षायें बढ़ जाती हैं। इंदिरा गांधी ने अपनी महत्वाकांक्षा के कारण ही भारत पर इमरजेंसी लाद दिया था। इस इमरजेंसी से किसका लाभ हुआ? इतवारी, देशराज, बिल्लो, शम्शु, भोलू पहलवान, मास्टर बदर सबकी जिंदगी में अंधेरा और बढ़ा। जो राजनीति लोगों के जीवन को बरबाद कर दे, उसकी तारीफ कैसे की जाय। लेकिन इंदिरा गांधी ऐसे लोगों को रेडियो स्टेशन पर बुलाकर इमरजेंसी की तारीफ करवाती हैं। ऐसे समय में नौकरशाही खुलकर खेलती है। लोगों का जीना दूभर हो जाता है।[6] राही मासूम रजा ने तत्कालीन समय के राजनीतिक अत्याचार का चित्रण भविष्य् के दृष्टिकोण से किया था क्योंकि आज भी राजनीति का अत्याचार उसी प्रकार विद्यमान है। गरीबों का शोषण उसी प्रकार होता जा रहा है। निम्न और मध्यम वर्ग के परिवारों को छोटे-छोटे सपनों के लिए आज भी संघर्ष करना पड़ रहा है। आज भी कहीं-न-कहीं सपने टूटते रहते हैं। न हालात बदले न समस्या समाप्त हुई। राजनीति के कारण ही भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। अगर राजनीति गीता की शपथ लेकर भी दिग्भ्रमित न होकर सही न्याय देने लग जाए तो देश की हर समस्या का समाधन सुलभता से सभी को प्राप्त हो सकता है। अपने उपन्यासों के माध्यम से राही मासूम रजा ने देश से राजनीतिक भ्रष्टाचारी भावना को मिटाना चाहा, इसलिए आज भी समाज में उनके उपन्यासों की प्रासंगिकता है।

संदर्भ :

1. तिवारी डॉ. रामचंद्र : हिंदी का गद्य-साहित्य, संशोधित तथा परिवर्द्धित 12वां संस्करण-2018 ई., पृ.-229, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी। **2.** सिंह कुंवरपाल : भारतीय साहित्य के निर्माता प्रथम संस्करण 2005, पृ.सं. 20-21, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली। **3.** द्विवेदी राकेश नारायण : राही मासूम रजा और उनके औपन्यासिक पात्र, द्वितीय संस्करण-2019 पृ.सं. 27, विनय प्रकाशन, कानपुर। **4.** त्रिवेदी डॉ. पूनम : राही मासूम रजा का साहित्य : संवेदना और शिल्प, प्रथम संस्करण 2012, पृ.सं. 28 विद्या प्रकाशन, कानपुर। **5.** वही, पृ. सं.-29। **6.** सिंह डॉ. जिलेदार : राही मासूम रजा : एक अध्ययन, प्रथम संस्करण : 2005 ई., पृ. सं. 47. चिंतन प्रकाशन, कानपुर।

■

– हरिपुर रोड, न्यू कॉलोनी,
कटक (ओडिशा)-753001
मो. 9776049122

शंकर शेष के नाटकों में स्त्री

नागप्पा अप्पण्ण सिंगी

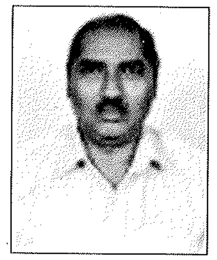

आधुनिक काल में शंकर शेष ने अपने नाटकों में स्त्री समस्याओं के समाधान हेतु अपने नाटकों 'रत्नगर्भा' की इला व माया, 'बिन बाती के दीप' की विशाखा व मंजु, 'घरौंदा की छाया', 'कोमल गांधार' की गांधारी, 'खजुराहो का शिल्पी' की अलका, 'बंधन अपने-अपने' की चेतना व 'मूर्तिकार' की ललिता व नीलू आदि पात्रों के द्वारा स्त्री के सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक संघर्ष के साथ-साथ विद्रोह आदि मानवीय गुणों का चित्रण किया है। इन पात्रों में सुख-दुःखात्मक सह-अस्तित्व व विघटन की अंतःधारा का अजस्र स्रोत प्रवाहित है। शंकर शेष की सजग चेतना सभी प्रकार के प्रभावों को, घटनाओं को एवं स्थितियों को गंभीरता से ग्रहण करती है। उन्होंने अपने नाटकों में समकालीन मनुष्य की जीवनगत समस्याओं, उसकी संघर्ष-चेतना, विघटित हो रहे जीवन-मूल्यों को प्रमुख विषय बनाया है। इन नाटकों में जहां एक ओर समकालीन मानव की त्रासदी, निराशा और घुटन का यथार्थ वर्णन है वहीं दूसरी ओर सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए मानवता को नये मूल्य और प्रतिमान देने का प्रयास भी किया गया है और वर्तमान समय में विद्यमान लाचारी, भुखमरी, भ्रष्टाचार, अशिक्षा, अशांति, अविश्वास, विलासिता, आर्थिक विषमता, अन्याय, स्वार्थपूर्ण नीति आदि पर प्रकाश डाला है।

देशकाल संदर्भ के अनुसार प्राणिमात्र में आत्मीय तोष की अनुभूति में मातृ देवो भव माता का स्थान सर्वोपरी एवं सर्वोत्कृष्ट है जो अद्वितीय करुणा, उपहार का स्वीकार व वात्सल्य के संस्कार बल में पाया जाता है। इसका ज्वलंत उदाहरण हैं शंकर शेष के नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' तथा 'अरे मायावी सरोवर' में मातृभाव की जीवंत प्रस्तुति है तो पारिवारिक दैनिक व्यवहार व आचरण में माता का पूजनीय रूप प्रस्तुत होता है।

शंकर शेष के समग्र नाटकों का अध्ययन करने के उपरांत यह कहना समुचित होगा कि उनके प्रत्येक नाटक में बिंबित नारी का सहधर्मिणी रूप वर्तमान के यथार्थ के अत्यंत निकटतम गोचरित होता है। कोमल गांधार की गांधारी का कथन– "स्त्री का स्वाभिमान कोई अर्थ रखता है क्या आपके परिवार में, उसकी कोई अस्मिता नहीं है क्या?" अस्तित्वहीन स्त्री को स्वाभिमान प्रदान करता है, इसमें अन्याय के विरुद्ध संघर्ष की मूल चेतना है। शंकर शेष के नाटकों में अनुभूतियों के आधार पर नारी रूपों का चित्रण हुआ है। 'रत्नगर्भा', 'मूर्तिकार' 'बिन बाती के दीप', 'घरौंदा' आदि में पत्नी का बौद्धिक, मानसिक, चारित्रिक इत्यादि विविध रूपों में चित्रण सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वांगीण मान्यता प्राप्त समकालीन नारी-पुरुष, परिवार-समाज तथा घात-प्रतिघात के संदर्भ में चित्रण हुआ है। 'घरौंदा' की छाया का संघर्ष, मध्यमवर्गीय प्रेयसी के जीवनगाथा परक यथार्थ को प्रस्तुत करता है। इसमें प्रेम, संत्रास और संघर्ष की चिनगारियां और मुम्बई जैसे महानगरीय जीवन में निरंतर संघर्ष की महागाथा है। इसमें घर की इच्छा, अधिकार

के लिए आक्रांत प्रेयसी छाया, सुदीप को ठीक रूप में स्वीकार नहीं पायी, जैसा वह था, गरीब, आदर्शवान मध्यम वर्गीय छोटा-सा व्यक्तित्व, अतः दोनों ही प्यार के आदिम स्पर्श से वंचित रह गए। 'खजुराहो का शिल्पी' में 'क्षण का मोह' में मोह का क्षण उक्ति द्वारा आध्यात्मिक आत्मस्मृति के साथ ऋग्वेद के 'काम तो अग्रज' सूक्त की समकालीन सामाजिक संदर्भ में 'अलका ' द्वारा अभिव्यक्ति दी गयी है, जो अविस्मरणीय बन जाती है। इसमें तो स्थान-स्थान पर तर्क-वितर्क पर मनुष्य की अस्मिता, वैचारिक संघर्षण, मानस मंथन, जीवन की संकीर्ण संवेदनाएं, आधुनिकता का पशुत्व प्रस्तुत कर इस प्रेयसी पात्र को शंकर शेष अमर बना देते हैं।

मूर्तिकार, पोस्टर, बन्धन अपने-अपने, बाढ़ का पानी, चंदन का दीप, बिन बाती के दीप आदि नाटकों में समकालीन समय में परिवर्तित प्रेयसी-चरित्र को वर्तमान वास्तविक देशकाल-वातावरण में प्रेम को भावनात्मक जीवन की शक्ति नहीं, स्वार्थ साधना के उपयोगपरक वस्तु के रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रेम के धरातल पर स्नेह, त्याग, बलिदान और एकनिष्ठता जैसे मानवीय मूल्य किसी बीते युग की बातें बताते हैं तो दूसरी ओर प्रेयसी में आत्म गौरव, स्वतंत्र अस्मिता का बोध, स्वाभिमान, शांत एवं सुखी भाव, आत्मनिर्भरता के अधिकार पूर्व आस्वादन भाव व परंपरागत मानवीय मूल्य के वास्तविक प्रतिनिधित्व के रूप में संजोया है।

शंकर शेष अपने नाटकों में द्वंद्वात्मक नारी रूप को चित्रित करते हैं। शंकर शेष के नारी चरित्र, रूप का मात्र एक केंद्र नहीं हैं। आधुनिक समकालीन जीवन के प्रति समर्पित होना और समरस होकर सहनता के सामरस्य के शाश्वत सत्य के रूप में इसका सजीव व अविस्मरणीय पात्र है *रत्नगर्भा* की इला। इला कहती है– परन्तु मेरा पति इस पतन के गर्त से अवश्य ऊपर उठ जायेगा। अपने पति को मनुष्य बनाने के लिए मैं बड़े से बड़ा त्याग कर सकती हूं माया! इस वक्तव्य से इला *सहनेषु धरित्री* सूक्त का प्रत्यक्ष कराती है, वह प्रत्येक क्षण अंधकार तथा प्रकाश में स्थित नित्य पीड़ा सहन करके दूसरों को प्रकाशीय बिंब की ओर ले जाना अपना कर्तव्य मानती है। स्त्री-पुरुष के संबंध को रचनाकार सदियों से समझने की कोशिश करते रहे हैं। जैसा कि प्रारम्भ में कहा था- विश्व का यह सबसे आदिकाल का संबंध वर्तमान युगीन संदर्भ में सरल नहीं रहा है। प्रत्येक सजग आधुनिक रचनाकार की तरह शंकर शेष ने दुराचारिणी के रूप को *बिन बाती के दीप* में मंजू के रूप में प्रस्तुत किया है। मंजु की संघर्षहीनता का, शिवराज से अधिक भयानक कारण है मंजु की मध्यमवर्गीय महत्वाकांक्षा, मानसिकता, आर्थिक विवशता जिससे पराजित मंजु का चित्रण अत्यंत अवसादयुक्त है।

परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई है और नारी परिवार को चलाती है। अतः परिवार में नारी को अधिक सहन करना होता है। परिवार के केंद्र बिंदु माता, पत्नी होते हुए भी भगिनी का महत्व कम नहीं है। शंकर शेष के नाटकों में इसको गम्भीर स्वरूप प्राप्त होते हैं। जैसा कि *रत्नगर्भा* की माया। माया अपने अधिकारों की प्राप्ति और स्वत्व की रक्षा के लिए संघर्षशील नारी का प्रतिनिधित्व करती है और इला द्वारा सब कुछ सहन करने की बात स्त्री का स्वभाव व संस्कारगत कायरता मानती है। वह कहती है– माया ये सब कायरता की बातें हैं, पानी अभी सिर से नहीं गुजरा है, पतिव्रता बने रहने का मतलब यह तो नहीं कि तुम अत्याचार सहती रहो। ये पंक्तियां स्पष्ट रूप से आधुनिक भारतीय नारी की संघर्ष-चेतना को अत्यंत भव्य व उदात्त अर्थ प्रदान करती है। *बंधन अपने-अपने* की चेतना महत्वाकांक्षा से ग्रस्त अनादि से कहती है– महत्वाकांक्षा की उपलब्धि के बाद की थकावट मिटाने के लिए किया नया प्रेम मुझे स्वीकार नहीं, स्त्री सबसे अधिक घृणा करती है भावनात्मक कायरता से, मैं तुमसे प्रेम करती हूं।

संदर्भ

1. डॉ. शंकर शेष के समग्र नाटक, सं. हेमंत कुकरेती। **2.** शंकर शेष के नाटकों में सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना : एक अनुशीलन, के. वासवा। **3.** शंकर शेष के नाटकः मिथक और आधुनिकता, चौहाण।

■

रेवा विश्वविद्यालय, बेंगलूरु
मो. 9742689179,
ईमेल- singina239@gmail.com

उत्तर आधुनिकता के विभिन्न आयाम

डॉ. ओम प्रकाश सैनी

वर्तमान दौर के वैचारिक परिवेश में 'उत्तर आधुनिकता' या पोस्ट मॉडर्निज्म एक व्यापक अवधारणा है, एक अत्यंत विवादास्पद पारिभाषिक शब्द जिसे परिभाषा में नहीं बांधा जा सकता केवल उसके लक्षणों को ही चिह्नित या परिलक्षित किया जा सकता है। उत्तर आधुनिकता एक ऐसी चुनौती भरी विचारधारा है जिसमें सभी विचारों व पद्धतियों को व्यतीत घोषित कर दिया गया है। **भारत में उत्तर आधुनिकता की शुरुआत 20वीं सदी के नौवें दशक में होती है और आज यह जीवन, साहित्य, समाज और संस्कृति के संदर्भ में विमर्श का प्रमुख केंद्र है।** उत्तर आधुनिकतावाद के प्रवर्तक जान फ्रांसुआ ल्योतार का यह मानना है कि उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता के युग का ही नया विस्तार है। यह भी सच है कि आज जीवन के हर क्षेत्र में उत्तर आधुनिकता का व्यापक असर दिखाई देता है। फिल्म, फैशन, विचार, विज्ञापन, इतिहास, धर्म-दर्शन, कला, साहित्य, संस्कृति, मीडिया सभी उत्तर आधुनिकता की चपेट में हैं। उत्तर आधुनिकतावाद ने साहित्य चिंतन की अनेक पद्धतियां विकसित की हैं, इन वैचारिक शैलियों में नवइतिहासवाद, नवमिथकवाद, सांस्कृतिक अध्ययनं क्षेत्र, सबार्डिनेट स्टडी (अधीनस्थों का अध्ययन), नारीवाद (फेमिनिज्म लेस्बियनिज्म), अश्वेत पीड़ा आदि का अध्ययन प्रमुख है। उत्तर आधुनिकतावाद ने हमारे धर्म, दर्शन, साहित्य, समाज और जीवन पद्धति को सबसे ज्यादा प्रभावित किया है **जिस कारण समाज में उपेक्षित दलित, नारी, अल्पसंख्यक यानी हाशिए का समाज केंद्र में सिमट आया है।** आज ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि आभिजात्यवादी या कहें ब्राह्मणवादी वर्चस्ववादी ताकतों के अस्तित्त्व पर संकट मंडराने लगा है। अब दलित एवं पिछड़ी जातियां जिन्होंने राजनीतिक शक्ति-सत्ता के केंद्रों पर आधिपत्य जमाया है, उभार पर हैं। उत्तर आधुनिकता का पूरा चिंतन 'सबाल्टर्न' जिनमें दलित, अश्वेत, किन्नर, आदिवासी जनजातियां, पहचान बनाने को उत्सुक लुटे-पिटे लोग, क्षेत्रीय आदिवासी, अल्पसंख्यक संस्कृति की मुख्यधारा में सम्मान प्राप्त करने का जी-तोड़ प्रयास कर रहे हैं। समूचे भारत में दलित आंदोलन, नारीवादी आंदोलन, समलैंगिक आंदोलन अपनी पूरी ताकत के साथ खड़े हो रहे हैं। ऐसे दबे-कुचले वर्गों की दस्तक साहित्य में पूरे जोर-शोर से सुनी जा सकती है, समूचा उत्तर आधुनिकतावाद इसी चिंतन का परिणाम है।

उत्तर आधुनिक दौर में स्त्री विमर्श, आदिवासी, दलित समाज और हाशिए का जीवन जी रहे लोगों को केंद्र में रखकर कई अच्छी और उल्लेखनीय कहानियां सामने आई हैं, इनमें प्रभात रंजन की 'जानकी पुल', सोनी सिंह की 'अपना कमरा', दीपक श्रीवास्तव की 'सत्ताइस साल की सांवली लड़की', प्रत्यक्षा की 'फूलपुर की फुलवरिया मिसराइन', शिल्पी की 'पापा तुम्हारे

भाई', कैलाश बनवासी की 'बाजार में रामधन', अलका कौशिक की 'थैंक्यू मार्क जुकरबर्ग', टेकचंद की 'दस नम्बरी', मो.आरिफ की 'लू' आदि कहानियां असाधारण उंचाई लिए हुए हैं। नई पीढ़ी के युवा कथाकारों की नजरें बदलते समाज पर हैं। दलित कथाकार दयानंद बटोही के कथा संग्रह 'सुरंग' के विषय में कही गई ये पंक्तियां इसका अक्षरशः प्रमाण हैं, 'ये दूसरी दुनिया के लोग अब इस अंधी सुरंग को फाड़कर अपने अधिकारों को प्राप्त करने को तत्पर हैं। एक जबरदस्त सामाजिक क्रांति के आह्वान का स्वर हमें इन कहानियों में सुनाई पड़ता है।'[4] वास्तव में उत्तर आधुनिक समाज में उपजी नवीन प्रवृत्तियाँ वेश्यावृत्ति अथवा कॉलगर्ल, लिव-इन-रिलेशन, समलैंगिकता, वार्धक्य आदि जीवन की समस्याएं ऐसी स्थितियां हैं जिन्हें किसी भी सूरत में नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। 21वीं सदी के पहले दशक की हिन्दी कहानियों में सदियों से हाशिए पर रह रहे वर्गों को, नवोदित-उदीयमान कहानीकारों ने उनके जीवन-जगत से जुड़ी अनेक समस्याओं के साथ बड़ी संजीदगी से कहानियों में उकेरा है।

वर्तमान दौर में परम्परागत सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक एवं आत्मिक संबंधों में बिखराव अनुभव हो रहा है। हम एक ऐसे माहौल में जी रहे हैं जहां प्रत्येक वस्तु-स्थिति के प्रति एक नकारात्मक दृष्टिकोण है। एक समय था जब हमारे पारिवारिक संबंधों में स्वच्छता, पवित्रता, नैतिकता एवं व्यवहारिकता थी। जीवन निर्वहन के लिए एक दूसरे पर निर्भरता थी, किंतु आज यह सब बीते जमाने की बात हो गई है। वर्तमान में तेजी से हो रहे तकनीकी एवं आधारभूत विकास तथा बाजारवाद या उपभोक्तावाद ने हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को गहरे से प्रभावित किया है। नई पीढ़ी मोबाइल, इंटरनेट, फेसबुक, यू-ट्यूब, ट्विटर आदि अत्याधुनिक तकनीक के सहारे अपना दायरा बढ़ाने के लिए कृतसंकल्प है, वहीं पुरानी पीढ़ी इन झंझटो में पड़ना मुसीबत ही समझती है। नई पीढ़ी और पुरानी में यही वैचारिक अंतर है। हम कहें कि पुरानी पीढ़ी के लिए पुराने मानदंड ही स्वीकार्य हैं लेकिन परिस्थितियां कुछ ऐसी बन गई हैं कि पुरानी पीढ़ी के लिए न चाहते हुए भी नए मूल्य, नयी टेक्नोलॉजी को अपनाना-सीखना अनिवार्य हो गया है, ऐसा न करने पर जीवन व्यर्थ-सा लगने लगता है।

वर्तमान युग में घर-घर में घुस गयी तकनीक से उत्पन्न जीवन मूल्यों के द्वन्द्व को व्यक्त करने वाली गुरुदयाल की एक कहानी उल्लेखनीय है। गुरदयाल दलाल पुरानी पीढ़ी के सशक्त हस्ताक्षर हैं, उनके द्वारा रचित पंजाबी कहानी **'वायरस'** आधुनिक तकनीक पर आधारित एक ऐसी कहानी है जिसमें सेवानिवृत्त कथानायक जैसे-तैसे परिस्थितियों से समझौता कर आधुनिक तकनीक को जीवन में उतार लेता है, किंतु यही तकनीक उसके जी का जंजाल बन जाती है। यद्यपि जीवन संध्या में बहू-बेटे से जन्मदिन के उपलक्ष्य में उपहार स्वरूप मिले मोबाइल की बारीकियां जैसे नाते-रिश्तेदारों के नाम-नंबर फ़ीड करना, मैसेज करना, अलार्म लगाने जैसी छोटी-मोटी जानकारियां न चाहते हुए भी टाइम पास के बहाने घर में अकेले रहते हुए उन्होंने अपने जुड़वां पोते-पोती से सीख ली थी। इसे संयोग कहें या तकनीक के प्रति रुझान धीरे-धीरे समस्त तकनीकी बारीकियों से जूझते अनेक सीढ़ियों को पार करते हुए उन्होंने लैपटॉप और फेसबुक पेज तक बनाने की कला हासिल कर ली। लेकिन इस टेक्नोलॉजी में महारत हासिल करना एक दिन उनके लिए मुसीबत का कारण बन जाएगा इसका ख्याल उन्हें सपने में भी नहीं था। अपने तकनीकी ज्ञान पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए कथानायक कहता है 'लैपटॉप के फंक्शन सीखने के बाद मुझे आश्चर्य हुआ, अरे! इसमें तो दुनिया भर की जानकारी मौजूद है। बच्चों ने फेसबुक पर मेरे नाम का खाता भी खोल दिया। मैं मोबाइल पर हर दिन अपने मनपसंद अखबार व पत्रिकाएं पढ़ता और अपने पुराने मित्रों की तलाश में जुट जाता। धीरे-धीरे फेसबुक पर मैंने अपने सौ से अधिक मित्र बना लिए जिनमें युवक-युवतियां, स्त्री-पुरुष सब शामिल थे। हैरानी मुझे इस बात की थी कि उनमें से सबसे उम्रदराज मैं ही था।'[1] वास्तव में यह उसके जीवन का शानदार अनुभव था। एक दिन अचानक लैपटॉप से खेलते हुए उन्हें अपने कॉलेज के दिनों के पुराने मित्र हरमिलाप शम्भू का ख्याल आया जो कभी ग्वालियर कॉलेज में उनका सहपाठी हुआ करता था। फेसबुक ने पलभर में ही मित्र से मिलने की जिज्ञासा शान्त कर दी। फेसबुक के सहारे पलभर में मित्र की जानकारी पाकर वह फूला नही समाया। यह आधुनिक तकनीक का ही कमाल था जिसने वर्षों से बिछड़े मित्र से मिलने की इच्छा को अंजाम दे दिया, उसने भी बिना देरी किए अपने इस व्यापारी मित्र को मिलने का निमंत्रण भेज दिया। दरअसल कहानी में वायरस की शुरुआत यहीं से होती है, जब अचानक एक दिन शम्भू अपने भारी भरकम डील-डोल और सामान से भरे बैग के साथ चंडीगढ़ आ धमका जहां कथानायक पहले ही पत्नी श्यामा के साथ गर्मियों की छुट्टियों के बहाने बेटे-बहू के पास आए हुए थे। कथानायक मित्र की आवभगत में तनिक भी कोर-कसर रखना नही चाहता था किंतु पारिवारिक संस्कारों की चासनी में पगे कथानायक की भावनाओं को मित्र के असामान्य व्यवहार से उस समय गहरी ठेस लगी जब मित्र ने उसकी सुविधाओं का ख्याल किए बगैर खाने में शराब तथा मीट की मांग रख दी। ऐसा करना जहां आतिथ्य की भावना से खिलवाड़ है, वहीं ऐसी असामान्य परिस्थितियां कथानायक को अपने ही घर के भीतर कठघरे में खड़ा कर देती है, न चाहते हुए भी वह मित्र का मान रखता है और घर से बाहर होटल ले जाकर उसकी फ़रमाइश पूरी करता है। इतना ही नहीं शम्भू द्वारा बिजनेस के सिलसिले में मित्र के बेटे की स्कूटी को कई दिनों तक काम में लेने की घटना से उनके पांव तले की जमीन ही खिसक गई, उसी का परिणाम हुआ कि कई दिनों बाद घर लौटे बेटे सतिंदर ने न केवल शम्भू को फटकार लगाई बल्कि वायरस कहकर घर से बाहर भी निकाल दिया।

दरअसल कहानी में 'वायरस' की शुरुआत शम्भू के घर आने के साथ ही शुरू होती है। अचानक शांत पारिवारिक माहौल तनावग्रस्त हो जाता है। वास्तव में समाज मे कुछ लोग ऐसे होते हैं जो संस्कृति, मर्यादा, मान-सम्मान को ताक पर रख संबंधों का नाजायज फायदा उठाते हैं। शम्भू उसी का जीता-जागता उदाहरण है। वह मित्रता जैसे पवित्र रिश्ते को कलंकित करने में तनिक भी गुरेज नहीं करता। वह एक ऐसा वायरस है जो दूसरों की सुविधा-असुविधा का ख्याल किए बगैर अपना उल्लू सीधा कर चलता बनता है, उसके लिए मित्रता 'यूज एंड थ्रो' की मानिंद कोई मायने नहीं रखती। इसके विपरीत एक संस्कारी व्यक्ति मित्र की आवभगत में थोड़ी-सी भी कमी आने पर असहज हो जाता है। वास्तव में कहानीकार शम्भू के माध्यम से यह दिखाना चाहता है कि समय के बदलाव के साथ मनुष्य के व्यवहार में भी कितना बदलाव आया है, जो उत्तर आधुनिकता की देन है। यह सब उत्तर आधुनिकतावादी सोच का ही परिणाम है कि हम दूसरों की भावनाओं से कैसे खिलवाड़ कर सकते हैं। बाजार अपने व्यवहार में कितना निर्मम और कठोर है इसका आभास हमें शम्भू के व्यवहार से होता है। शम्भू व्यापारी है, उसके लिए व्यापार पहले है मित्रता बाद में, आज का युग-सत्य यही है। वर्तमान भौतिकतावादी युग में नैतिकता, भावना, प्रेम, सम्मान, व्यवहार आदि का कोई अर्थ नही रह गया है। उत्तर आधुनिक समाज में उपजी ऐसी नकारात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव समाज को खोखला बना रहा है।

वर्तमान में हो रहे विकास कार्यों से उत्पन्न नई परिस्थितियों से उत्पन्न द्वंद्वों को व्यक्त करने वाली, हिन्दी कथा मासिक 'हंस' में प्रकाशित कैलाश बनवासी द्वारा रचित **'दाग अच्छे हैं'** लीक से हटकर नए अंदाज में लिखी गई एक सशक्त कहानी है। कहानीकार उत्तर आधुनिक परिवेश में उपजी संशयात्मक स्थितियों को उकेरने में पूर्णतया सफल रहा है। उत्तर आधुनिकता का सबसे बड़ा हथियार निजीकरण है। इस कहानी का नायक घनश्याम साहू एक निजी बीमा कंपनी में विकास अधिकारी है जो औद्योगिक नगरी भिलाई और रायपुर के आसपास गांव-देहात में बीमा का काम करता है। घनश्याम साहू सलीके से रहने वाले सफाई पसंद व्यक्ति हैं। अपने व्यवहार, कपड़ों की साफ सफाई, बाइक की मैंटेनेंस आदि के लिए वह घर मोहल्ले और स्टॉफ के लिए रोल मॉडल है। उत्तर आधुनिक युग में विज्ञापन एक ऐसा हथियार है जो उपभोक्ता बाजार में वस्तुओं की मांग पैदा करता है। विज्ञापन का अपना मायावी संसार है। विज्ञापन एक ऐसा अचूक मारक अस्त्र है जिसकी ताकत अनायास उपभोक्ता को खींच लेती है। कपड़े धोने के साबुन से लेकर रियल एस्टेट तक का सारा कारोबार विज्ञापन के मायावी संसार पर ही टिका

है। कहानीकार बताता है कि रायपुर से दुर्ग जाते हुए साहूजी जैसे ही पावर ग्रिड कॉरपोरेशन के आरक्षित एरिया को पार करते हैं तो रियल एस्टेट कंपनियों के बड़े-बड़े बैनर होर्डिंग्स देख हैरान रह जाते हैं। इस दिलचस्प नजारे को कहानीकार ने शब्दों में कुछ यूँ बाँधा है, 'आगे की जमीन पर रियल स्टेट वालों का कब्जा है जहां लोगों की रिहाइश के लिए बिल्डिंग बनाने वाली कई कंपनियां थी जो टू बीएचके या थ्री बीएचके वाले अपार्टमेंट, हाइटस, विहार या ग्रीन सिटी बना रही थी। साहूजी ने वहां जिधर भी नजर दौड़ाई, चारों तरफ अपने निर्माण एजेंसी का चित्र सहित आकर्षक प्रचार करते होर्डिंग्स लगे थे, जिनमें ग्राहकों को लुभाने वाले कई तरह के ऑफर भी थे। एक का स्लोगन था 'टच्स रायपुर फील भिलाई'। आगे खारून नदी बहती है, तो उसके किनारे बन रहे हाउसिंग बोर्ड ने अपने रिहाइश का नाम रख लिया है 'खारून ग्रीन्स', पढ़ते हुए उन्होंने महसूस किया कि ये विज्ञापन चाहे और कुछ करे न करे पढ़ने वाले के मन में एक उत्साह, आनंद तो भर ही देते हैं।'[2]

कहानीकार घनश्याम साहू के भिलाई से रायपुर बाइक द्वारा सड़क मार्ग से जाने की घटना के बीच में ही बड़ी कुशलता से सारी कथा कह देता है। कहानीकार मुख्य कथा के साथ-साथ हमारा ध्यान हाईवे पर बनने वाले फ्लाई-ओवरों, नजदीकी कस्बों में बनने वाली आलीशान कॉलोनियों, हाईवे पर पड़ने वाले गांवों में धड़ाधड़ खुल गई किराना, मोबाइल, रिचार्ज, होटल, पान-ठेले, फल-फूल यहां तक की ज्वैलरी तक की दुकानों की ओर ले जाता है, ये सब ऐसे काम हैं जिन्हें कम पूंजी में आसानी से किया जा सकता है, तकरीबन हर गांव के अंदर ब्रांडेड सामानों की दुकानें भी खुल चुकी हैं। यह सब वातावरण उत्तर आधुनिक विकास की कहानी कहता है। हमारे गांव-देहात तेजी से बदल रहे हैं। कहानीकार ने एक साथ गैस, पेट्रोल-डीज़ल की बढ़ती कीमतों, मिलावट, महंगाई, बेरोजगारी, पर्यावरण प्रदूषण जैसी देशव्यापी समस्याओं पर भी नजर दौड़ाई है। विकास के नाम पर हाइवे पर लगने वाले ग्रामीण क्षेत्रों की तो कायापलट हुई है, लेकिन हजारों-लाखों गांव आज भी विकास की गंगा से कोसों दूर हैं। गांव-कस्बों, शहरों-महानगरों में रोजगार के साधन सिमट रहे हैं। तकनीक के आगमन से हमारे पुश्तैनी काम-धंधे चौपट हो रहे हैं। युवाओं के लिए हाथ का हुनर सीखना, जहां समय, मेहनत, बुद्धि और धैर्य की जरूरत होती है मुश्किल होता जा रहा है, ऐसे कार्यों के प्रति युवाओं की रुचि कम हुई है। दूसरी तरफ सरकार युवाओं को आत्मनिर्भर बनाने के लिए कौशल आधारित शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने में जुटी है। उत्तर आधुनिक परिवेश में स्व-रोजगार, कुशलता, आत्मनिर्भरता जैसे मानवीय गुण सिरे से गायब हैं। उत्तर आधुनिकता के कारण पुश्तैनी लघु एवं कुटीर उद्योग धन्धों से हमारा मोहभंग हुआ है। उत्तर आधुनिकता ने मनी, माइंड और मसल के बल पर हाथ के हुनर को छीनने की साजिश रची है, उसी का परिणाम है कि कई किलोमीटर खराब बाइक घसीटने के बाद बमुश्किल साहूजी को एक मैकेनिक की दुकान मिली है। यह भी सही है कि देश में निरंतर प्रगति और शहरीकरण के नाम पर सड़कों, पुलों का जाल बिछाया जा रहा है, जिसके चलते कृषि योग्य उपजाऊ भूमि का अंधाधुंध अधिग्रहण किया जा रहा है। छोटी-जोत के किसानों का जीना मुहाल हो गया है। कहानीकार गांव में बनने वाले पुल का हवाला देकर हमारा ध्यान उस गरीब असहाय मकैनिक की ओर खींचता है जो पुल बनने पर अपनी रोजी-रोटी की चिंता से बेखबर है। साहूजी के यह पूछने पर कि, 'ब्रिज बन जाने के बाद गाड़ियां तो सांय-सांय ऊपर से ही निकल जाएंगी। यहां कौन आएगा? तुम्हारी ग्राहकी तो कम हो जाएगी...?' मिस्त्री ने पहली बार क्षणभर साहूजी को गौर से देखा। फिर बोला, 'अब जिसकी गाड़ी बिगड़ेगी उसे आखिर नीचे तो आना पड़ेगा न...!' और हल्के से हंस पड़ा। पहली बार साहूजी एकदम चकित थे। कहां तो एक छोटी-सी मुसीबत आ जाए तो आदमी कितना परेशान हो जाता है। और यह बंदा मुस्कुरा रहा है?... और वो भी कितने आत्मविश्वास से! उसके सामने खुद को हारा हुआ महसूस कर रहे थे वे...।'[3] गाँव के एक छोटे से मैकेनिक से किया गया यह प्रश्न वास्तव में साधारण प्रश्न नहीं है बल्कि हर उस कामगार का प्रश्न है? जिसे हाथ के हुनर में महारत हासिल है लेकिन

भविष्य की चिंता से बेखबर है। वह मैकेनिक जो दिन-रात काले-पीले हाथ कर रोजी-रोटी का जुगाड़ बिठाता है, बच्चों का पेट पालता है क्या उसके आगे भूखों मरने की नौबत नहीं आ जाएगी? वास्तव में साहूजी को पहली बार इस बात का एहसास हुआ है कि मल्टीनेशनल कंपनियां कितनी चतुराई से हमारे काम धन्धों को चौपट कर रही हैं। एक मल्टीनेशनल कंपनी का विज्ञापनी सलोगन 'दाग ढूंढते रह जाओगे' आज चरितार्थ हो रहा है। हमारे मैकेनिक के कपड़ों पर लगे दाग जिनसे उसे दो जून की रोटी नसीब होती हैं उसे सुहाते नही है, क्योंकि हाथ के रोजगार को छीनकर मशीनों की उपयोगिता सिद्ध करना ही उत्तर आधुनिकता का मूल-मंत्र है। कहानीकार बताना चाहता है कि उत्तर आधुनिकता की आंधी में सब कुछ उड़ गया है। रोजगार, हाथ का हुनर, लघु-कुटीर उद्योग, काम-धन्धे सब छिन रहे हैं। सरकारी योजनाएं खाली पेट भरने में असमर्थ हैं। युवाओं का हुनर बचा रहे, रोजगार बना रहे इसके लिए दाग अच्छे ही नहीं बहुत अच्छे हैं। निःसंदेह 'दाग अच्छे हैं' इस बात का परिचायक है कि हम अपनी जड़ों से जुड़े रहें, हाथ के हुनर, लघु एवं कुटीर उद्योग धंधों को बचाए रखें वरना वह दिन दूर नहीं जब मल्टी नेशनल कंपनियां हमें नाकों चने चबाने को मजबूर कर देंगी। यह ठीक है कि आज विश्व में मल्टीनेशनल कंपनियों की धाक है। आधुनिकीकरण ने हमें शौहरत, चमक-दमक और दूध-सी सफेदी दी है, पर क्या इस दूध-सी सफेदी के पीछे हम अपना सब कुछ लुटा तो नही बैठे हैं? निश्चित रूप से बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा रचे गए मकड़जाल ने हमारे गांव, घर, खेत, खलियान, लघु एवं कुटीर उद्योग, हस्तशिल्प, कला, साहित्य, सभ्यता और संस्कृति को लीलने का षड्यंत्र रचा है। आज उत्तर आधुनिकता के बवंडर के चलते हमारी संस्कृति पर व्यापक खतरा मंडराने लगा है, इससे सावधान रहने की आवश्यकता है।

समग्रतः कहा जा सकता है कि तकनीकी क्रांति, संचार क्रांति और उपभोक्ता संस्कृति के कारण भारतीय समाज एक अजीबो-गरीब बेचैनी के दौर से गुजर रहा है। दूसरे शब्दों में कहें कि आज भारतीय समाज व संस्कृति विश्व-पूंजीवाद, उदारीकरण और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में लाचार है। यह उपभोक्तावादी क्रांति एक ऐसे समाज को जन्म दे रही है जिसमें पुरानी मूल्य व्यवस्था विकलांग और अपाहिज दिखाई दे रही है। भारतीय समाज में नव साम्राज्यवादी ताकतें बाजारवाद और संचार क्रांति के नाम पर प्रदूषण फैला रही हैं। इनमें निरंतर बदलती आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिवेशजन्य परिस्थितियों को जहां मूर्धन्य कथा मनीषियों ने अपनी कहानियों में उकेरा है, वहीं नवोदित एवं उदीयमान कथाकारों की कहानियों में भी इन आयामों की स्वतंत्रत सत्ता देखी जा सकती है। अंततः कहा जा सकता है कि उत्तर आधुनिक हिंदी कहानीकार जिन मूल्यों को रेखांकित करता है, वह बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के परिवर्तनशील आयाम हैं। उत्तर आधुनिक बोध के अध्ययन का केंद्र भी मध्यवर्ग है। मध्यमवर्गीय संवेदना कस्बों, गलियों, मोहल्लों एवं अभावग्रस्त परिवारों में जिंदगी के उन तमाम अंधेरों को प्रस्तुत करती है जिनकी वजह से समाज में असंतुलित परिवेश उभरता है। आज के माहौल में स्वस्थ नैतिक जीवन मूल्य अपने अस्तित्व को बरकरार नहीं रख सके हैं।

संदर्भ :

1. कथा मासिक हंस, मार्च 2021, पृष्ठ. 73। 2. वही, पृष्ठ 65। 3. वही, पृष्ठ 67। 4. डॉ. प्रेमलता चुटैल, स्मारिका, दलित एवं दलित चेतना सम्मेलन, सा. अ. भोपाल, 1998 पृष्ठ 47।

■■

एसोसिएट प्रोफेसर (हिंदी विभाग)
आर. के. एस. डी. कॉलेज, कैथल (हरियाणा)।
दूरवाणी-9466544566
ईमेल- sainiop@gmail.com

रामभक्ति काव्य-परम्परा : एक अवलोकन

दिनेश अहिरवार

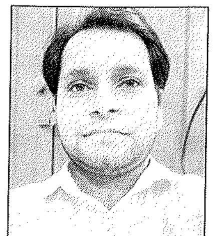

विष्णु-उपासना को वैष्णव भक्ति के व्यवस्थित प्रवर्तन का श्रेय आचार्य रामानुज को जाता है परन्तु इस परम्परा में राम-भक्ति को स्थापित और विकसित करने में उनकी शिल्प परम्परा में स्वामी रामानंद का महत्वपूर्ण योगदान है। रामभक्ति काव्य से सम्बंधित रामानंद की रचनाएँ देखने को मिलती हैं जिनमें *रामरक्षास्तोत्र, ज्ञानलीला, ज्ञानतिलक, योगचिंतामणि* आदि प्रमुख हैं। रामानुज ने भक्ति और ज्ञान को कर्म के माध्यम से एक विष्णु-उपासना को जहाँ दार्शनिक आधार प्रदान किया, वहीं दूसरी ओर रामानंद ने उसे सीताराम की उपासना का रूप दिया और उनकी शिष्य परम्परा में अग्रदास, तुलसीदास, नाभादास, ईश्वरदास आदि राम भक्त कवियों ने रामभक्ति काव्य-परम्परा को एक विशिष्ट साहित्यिक धरातल प्रदान कर व्यापक विस्तार किया। इन्होंने राम की भक्ति और ख्याति दोनों को भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठित किया।

रामकथा से सम्बंधित प्रथम काव्य रचना के रूप में संस्कृत में वाल्मीकि कृत रामायण को ही प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है। वाल्मीकि को आदि कवि के रूप में माना जाता है। तत्पश्चात संस्कृत के महाभारत, पुराणों आदि एवं संस्कृत-काव्यों में संक्षेप में रामकथा मिलती है। इसके अलावा संस्कृतेतर भाषाओं में रामकथा की समृद्ध परम्परा मिलती है। इस सन्दर्भ में डॉ. बेबर का मत है कि 'रामकथा का मूलरूप बौद्ध ग्रन्थ 'दशरथ जातक' में सुरक्षित है जबकि फादर कामिल बुल्के ने 'दशरथ जातक' को रामकथा का विकृत रूप कहा है। जैन काव्य परम्परा में राम काव्य की अनेक कृतियाँ हैं। डॉ. परमलाल गुप्त के अनुसार जैन रामकथा प्राकृत अपभ्रंश की कड़ी के रूप में प्रारंभिक हिंदी में भी चलती रही है। आज भी इसकी परम्परा लुप्त नहीं हुई है।"[1] अर्थात हिंदी साहित्य के भक्तिकालीन रामकाव्य परंपरा से पूर्व भी अन्य भाषाओं में रामकथाओं के प्रमाण देखने को मिलते हैं।

रामकथा का प्रचार-प्रसार न केवल हिंदी साहित्य में ही हुआ है अपितु भारत की सभी भारतीय भाषाओं एवं विदेशों में भी रामकथा का प्रणयन देखने को मिलता है। रामकथा का सम्बन्ध हमारी भारतीय संस्कृति से गहरे से जुड़ा हुआ है। तब जाहिर सी बात है कि यहाँ के साहित्य में भी इसके संस्कारों का प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। प्राकृत भाषा में भी रामकथा से सम्बंधित कुछ महत्त्वपूर्ण साक्ष्य मिलते हैं 'प्राकृत में रचित जैन रामकथा काव्य परम्परा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विमल सूरि द्वारा रचित 'पउम चरिउ' है। दसवीं सदी के भाडेश्वर सूरि के 'कहावली' ग्रन्थ में लगभग 23000 छंदों में रामकथा कही गयी है। मुनि लावण्य रचित 'रावण-मंदोदरी संवाद' पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में रचित ग्रन्थ है। सोलहवीं शताब्दी में ब्रह्म जिनदास द्वारा रचित 'राम-रास और 'हनुमंत रास' नामक काव्य ग्रन्थ मिलते हैं। सत्रहवीं सताब्दी में जिनराज सूरि की प्रमुख रचना 'रावण-मंदोदरी संवाद' है। डॉ. कस्तूर चन्द्र कासलीवाल ने ब्रह्म जय सागर द्वारा रचित ग्रन्थ 'सीता हरण रास' का उल्लेख करते हुए इसका समय विक्रम संवत 1732 निर्धारित किया है। जैन काव्य धारा के प्रख्यात काव्य ग्रन्थ के रूप में सन 1961 ई. में प्रकाशित आचार्य तुलसी की रचना 'अग्नि-परीक्षा' का उल्लेख किया गया है।[2] बौद्ध-जैन पाली प्राकृत आदि के राम काव्यों में अनेक घटना क्रमों को लेखकों ने अपने अनुसार परिवर्तित कर अपने धर्म के सैद्धांतिक मूल्यों के अनुरूप अपनी कल्पनानुसार रचने का कार्य किया है जिसमें प्रमाणिकता का आभाव देखने को मिलता है। आदिकालीन रामकाव्य परम्परा के सन्दर्भ में डॉ. विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं कि 'इस युग की कृतियों में मंगलाचरण अथवा स्तुति के रूप में कहीं-कहीं रामकथा के प्रसंग दृष्टिगत हो जाते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में दशावतार वर्णन वस्तुतः मंगलाचरण के रूप में ही है।[3] उपर्युक्त विवेचन के आधार हम कह सकते हैं कि रामकथा से सम्बंधित साहित्य रचना विभिन्न भारतीय भाषाओं में रामकथा का प्रतिपादन हुआ है जो रामकथा काव्य को एक निश्चित दायरे से बाहर निकालकर एक व्यापक मनोभूमि प्रदान करने में सफल हुई।

हिन्दी साहित्येतिहास के भक्तिकाल में रामभक्ति के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं। एक तो स्वामी रामानन्द के शिष्य कबीर के यहाँ जो कि राम को निर्गुण रूप में स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि–

दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना,
राम नाम का मरम न आना।[4]

वहीं दूसरी ओर स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में तुलसीदास के यहाँ जहाँ दशरथ पुत्र सगुण राम हैं जिनके सन्दर्भ में तुलसीदास लिखते हैं कि–

'जेहि इमि गावहिं वेद बुध जाहि धरहि मुनि ध्यान
सोई दशरथ सुत भगत हित सबपति भगवान।'[5]

रामानंद की ही शिष्य परंपरा में अग्रदास का नाम भी प्रमुख स्थान रखता है इन्हें अग्रअली के नाम से भी जाना जाता है। इनके द्वारा रचे गए ग्रंथों ने रामकाव्य परंपरा में रसिक भावना को समावेशित करने का विशिष्ट व महत्वपूर्ण कार्य किया है। अग्रदास द्वारा रचे गए ग्रंथों में ध्यान मंजरी, अष्टयाम, रामभजनमंजरी, उपासना-बावनी और पदावली हैं एवं हितोपदेश भाषा भी इन्हीं का ग्रन्थ माना जाता है। अग्रदास द्वारा रचित सभी ग्रंथों की भाषा ब्रजभाषा है।

हिंदी साहित्य में भक्तिकालीन रामभक्ति काव्य की एक लम्बी परंपरा रही है। ईश्वरदास कृत– भरत मिलाप तथा अंगद पैज रामकाव्य परम्परा की प्रमुख रचनाएँ हैं। भक्तिकालीन राम-काव्य परम्परा में ईश्वररदास के उपरांत सर्वप्रमुख नाम गोस्वामी तुलसीदास का आता है तुलसीदास ने ही रामकाव्य परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए हिंदी में आमूलचूल योगदान दिया है। उनके द्वारा रचित ग्रंथों में रामचरितमानस का प्रमुख स्थान है। इनके द्वारा विरचित ग्रंथ विविध सूत्रों से उपलब्ध हुए हैं। आचार्य शुक्ल के हिन्दी साहित्य का इतिहास ग्रन्थ में तुलसी के छोटे-बड़े बारह ग्रंथों का उल्लेख मिलता है जिनमें *दोहावली, कवित्त रामायण, गीतावली, रामचरितमानस, रामाज्ञाप्रश्न और विनयपत्रिका बड़े ग्रन्थ हैं तथा रामललानहछु, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी और कृष्णगीतावली* छोटे ग्रन्थ हैं। जबकि *शिवसिंह सरोज* में दस और ग्रंथों के नाम भी गिनाये गये हैं। राम-सतसई, संकटमोचन, हनुमानबाहूक, रामशलाका, छंदावली, छप्पयरामायण, कडखारामायण, रोलारामायण, झूलनारामायण और कुण्डलियां रामायण।[6]

गोस्वामी तुलसीदास की इन तमाम रचनाओं में *रामचरितमानस* लोकमंगल की भावना से अभिप्रेरित रामकाव्य परंपरा का महान और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के रूप में शक्ति, शील और सौन्दर्य से युक्त एक लोक कल्याणकारी नायक को समाज में प्रस्थापित किया गया है। आधुनिककाल में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'उर्मिला विषयक उदासीनता' लेख से प्रेरित होकर मैथिलिशारण गुप्त साकेत जैसा ग्रन्थ लिखकर मर्यादा पुरुषोत्तम राम को कटघरे में खड़ा करते हैं और सीता और उर्मिला के दुःख की तुलना में उर्मिला के दुःख को अधिकतम साबित करने का प्रयास करते हैं कि सीता के दुःख से बड़ा उर्मिला का दुःख था क्योंकि सीता भले वनबास में रहीं लेकिन थीं तो अपने पति के साथ जबकि उर्मिला का कोई गुनाह न होते हुए उसने भी

चौदह वर्षों का विरह सहा है जो सीता के दुःख से कहीं अधिक कष्टप्रद है।

तुलसीदास की भक्तिपरक काव्य रचनाओं में समन्वयवादी दृष्टिकोण देखने को मिलता है। तुलसीदास की समन्वय वादी भक्ति के सन्दर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि-'भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, जातियां, आचार, विचार और पद्धतियाँ प्रचलित हैं। तुलसीदास स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है, उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय ही नहीं है अपितु गृहस्थ और वैराग्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनाशक्त चिंता का समन्वय रामचरितमानस के आदि से अंत तक के छोरों पर जाने वाली परकोटियों को मिलाने का प्रयत्न है।[7]

हिंदी की रामभक्ति काव्य परंपरा में नाभादास कृत '*अष्टयाम*', प्राणचन्द्र चौहान का 'रामायण महानाटक' (1610), माधवदास का 'रामरासो' (1618) और 'अध्यात्म रामायण', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' (1623), लालदास का 'अवध विलास' (1643), रामचंद्र का 'सीता चरित्र' (1656), मंडन का 'जनक पचीसी' (1659), सुखदेव मिश्र का 'हनुमान पंचक', 'हनुमान पचीसी' (1795), नरहरिदास बारहठ का पौरुषेय रामायण (1733 वि.) आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथों ने रामकाव्य परम्परा को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

रीतिकालीन राम काव्य परंपरा की ओर नजर डालें तो पाते हैं कि रीतिकालीन राम भक्तिकाव्य परम्परा की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना आचार्य केशवदास की 'रामचंद्रिका' है जिसकी रचना 1601 ई. में हुई। सेनापति द्वारा 1706 में विरचित 'कवित्तरत्नाकर' रीतिकालीन रामकाव्य परम्परा का एक प्रमुख ग्रन्थ है। सिक्ख समुदाय के दसवें गुरु के रूप में प्रतिष्ठित तलवार और कलम दोनों के धनी गुरुगोविंद सिंह द्वारा रचित 'रामावतार' रामकाव्य परम्परा की सुन्दर रचना है। समरथ नरेश के राज्याश्रित कवि नवलसिंह द्वारा ब्रजभाषा में रामकाव्य रचनाएँ रची गयी हैं। इन रचनाओं में 'रामचंद्र विलास', 'आल्हा रामायण', 'अध्यात्म रामायण', 'रूपक रामायण', 'राम विवाह खण्ड', मिथिला खण्ड आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[8] रीतिकाल में आते-आते रामकाव्य में कुछ बदलाव देखने को मिलते हैं, अर्थात उसमें भी युगीन प्रवृतियाँ लक्षित होती हैं, स्वाभाविक भी है, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है।[9]

रीतिकाल में रामकाव्य परम्परा से सम्बंधित विपुल रचनाएँ देखने को मिलती हैं परन्तु रीतिकालीन राम काव्य में उस भक्ति की प्रधानता नहीं रह गई थी जो भक्तिकाल में दृष्टिगोचर होती है क्योंकि रीतिकालीन काव्य में शृंगारिकता एवं लाक्षणिकता की प्रधानता पर जोर दिया गया। रीतिकालीन रामकाव्य परंपरा के कवियों में महाराज विश्वनाथ के रामकाव्य से सम्बंधित 32 ग्रंथ उल्लेखनीय है जिनमें 'रामायण गीता', 'रघुनन्दन प्रामाणिक', 'रामचंद्र की सवारी', 'आनंद-रामायण' प्रमुख काव्य कृतियाँ हैं। सरजूराम पंडित की 'जेमिनी पुराण भाषा', गुलाब कवि के पुत्र कविवर गणेश की '*श्लोकार्थ-प्रकाश*', '*हनुमत पच्चीसी*', *गोकुलनाथ की 'सीताराम-गुणार्णव', मनियार सिंह की 'सौन्दर्य लहरी', 'हनुमत छब्बीसी' और 'सुन्दरकाण्ड'* नामक रचनाएँ प्राप्त होती हैं।[10] आधुनिक काल में जब हम रामभक्ति परंपरा की बात करेंगे तो पाएंगे कि भारतेंदु युग के लेखकों में भक्तिकाव्य पर उतना जोर नहीं दिया गया जितना कि द्विवेदी और छायावाद युगीन रचनाकारों जैसे रामधारी सिंह दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त और उनके बाद कुँवर नारायण आदि रचनाकारों ने रामकाव्य परंपरा को अपने ढंग से एक नये अंदाज़ में संजीदगी के साथ आगे बढ़ाया।

राम की कथा किसी एक निश्चित भाषा के दायरे में ही सिमट कर नहीं रह जाती है सभी के राम अलग-अलग हैं, तुलसी के राम अलग हैं और कबीर के राम अलग हैं। रामभक्ति से सम्बंधित लगभग सभी भारतीय भाषाओं में उनकी कथा का वर्णन देखने को मिलता है लेकिन सभी के यहाँ अलग-अलग। किसी भी चरित्र को महान बनाने में रचनाकार की अहम् भूमिका होती है राम

को इतनी उंचाई और उदात्तता प्रदान करने में तुलसी का रचनात्मक कौशल सराहनीय है। राम को महान बनाने में तुलसीदास की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। राम तो एक ही हैं लेकिन हम उनकी जैसी कल्पना कर लें वैसे हैं, राम को न कबीर ने देखा है और न तुलसी ने बल्कि रामचरितमानस ग्रन्थ तुलसी की उदात्त चेतना का प्रतिफलन है। समस्त भारतीय साहित्य में रामकाव्य परंपरा के अनेक ग्रन्थ देखने को मिलते हैं जो रामकाव्य परंपरा को विविधात्मक बनाते हैं।

सन्दर्भ :

1. डॉ. हरिणी रानी आगर, बीसवीं सदी का रामकथा साहित्य, समता प्रकाशन, कानपुर (देहात), 2014, पृष्ठ - 44। 2. वही पृष्ठ- 44। 3. डॉ. नगेन्द्र (संपा.), हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स नोएडा, छियालीसवाँ संस्करण, 2014, पृष्ठ -173। 4. वही पृष्ठ - 173। 5. वही पृष्ठ - 173। 6. वही पृष्ठ - 176। 7. वही पृष्ठ -177। 8. डॉ. हरिणी रानी आगर, बीसवीं सदी का रामकथा साहित्य, समता प्रकाशन, कानपुर (देहात), 2014, पृष्ठ - 49। 9. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ- 13। 10. डॉ. हरिणी रानी आगर, बीसवीं सदी का रामकथा साहित्य, समता प्रकाशन, कानपुर (देहात), 2014, पृष्ठ -50।

■■

शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी (उ.प्र.)-221005
मो. 9893409311
Email - dineshsagarbhu19@gmail.com

सब में आत्मभाव

कोलकाता में हुगली जिले में एक मशहूर वकील थे। जिनका नाम शशिभूषण वंद्योपाध्याय था। वे बड़े उदार और दयालु व्यक्ति थे। एक बार वे जून के महीने की कड़कती धूप में एक किराए की गाड़ी में बैठकर शहर के विख्यात व्यक्ति के घर पहुंचे। शशिभूषण जी को उनसे अत्यंत आवश्यक कार्य था। स्वागत सत्कार के बाद उस व्यक्ति ने पूछा, 'इस भयंकर दोपहर में आपने इतनी दूर आने का कष्ट क्यों किया? इस काम के लिए आप किसी नौकर को पत्र देकर भी भेज सकते थे। इस पर शशिभूषण जी ने उत्तर दिया, 'मैंने पहले यही सोचा था। बल्कि मैंने पत्र लिख भी लिया था। लेकिन बाहर की प्रचंड गर्मी और लू देखकर किसी नौकर को भेजने का मेरा साहस नहीं हुआ। मैं तो गाड़ी में बैठकर आया हूँ। उस बेचारे को तो पैदल आना पड़ता। उसमें भी वही आत्मा है, जो मुझमें है।

स्त्री और 'बैलेंस फॉर बेटर'

'बैलेंस फॉर बेटर' सन् 2019 वर्ष का घोष वाक्य घोषित किया गया। आठ मार्च अंतरराष्ट्रीय महिला दिन के रूप में विश्व में जोर शोर के साथ मनाया जाता है। स्त्री के जीवन जीने से संबंधित सहस्राधिक समस्याओं पर जमकर विचार किया जाता है। सभी का निचोड़ सार रूप यह कि क्या आज इक्कीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में भी स्त्री को समान अधिकार प्राप्त हुए हैं। इस जटिल प्रश्न का उत्तर पाने के लिए विश्व की राजनीति में स्त्री का सहभाग कितना रहा है, पर पहले **एक सरसरी निगाह से देखना आवश्यक है कि राजनीति में महिलाओं को वोट देने का अधिकार कब से प्राप्त हुआ।** वोट देने का अधिकार पाने के लिए। उन्नीसवीं शती में यूरोप, अमेरिका और दक्षिण अफ्रिका में भारी आंदोलन करने पड़े थे। फिनलैंड में सन् 1907 में, नार्वे में सन 1913 में, डूनमार्क में सन 1915 में महिलाओं को वोट देने का अधिकार मिला। बोलश्विक क्रांति के बाद सन 1917 में रशिया में स्त्रियों को वोट देने का अधिकार मिला। कैनाडा में सन 1917, ब्रितेन जर्मनी पोलैंड में सन 1918, आस्ट्रिया निदरलैंड में सन 1919 में स्त्रियों को वोट देने के अधिकार दिये गये। 1920 में अमेरिका में, फ्रांस में सन 1944 में, इटली में सन 1946 में, ग्रीस में सन 1952 में और स्विटरजरलैंड में महिलाओं को वोट देने का अधिकार सन 1971 में मिला।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वतंत्र हुए अनेक एशियाई और अफ्रिकी देशों ने स्वतंत्र होने के तुरंत बाद ही महिलाओं को वोट देने का अधिकार दे दिया। भारत और पाकिस्तान में प्रथम निर्वाचन से ही वोट का अधिकार महिलाओं को मिला। सन 1971 में स्वतंत्र बंगलादेश बन जाने पर वहां भी यह अधिकार लागू कर दिया गया। इस्राईल जब स्वतंत्र देश हुआ सन 1948 में तभी से वहां की महिलाओं को वोट देने का अधिकार था। फिलिपिन्स में सन 1937 में तो जापान में सन 1945 में मिला। लेटिन अमेरिका में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद वहां महिलाओं ने आंदोलन की शुरुआत की। उरूग्वे में सन 1927, ब्राजिल और क्यूबा में सन 1934, व्हेनझुला में सन 1946 में, अर्जेनटाईना में सन 1947 तो मैक्सिको में सन 1953 में प्राप्त हुआ। यह इतिहास बताने का मकसद यह कि हमारा भारत इस दृष्टि से बड़ा प्रगत रहा, पर महत्वपूर्ण बात यह है कि वोट देने का अधिकार तो मिला पर संसद में चुने जाने और राजनीति में सक्रिय सहभाग पाने के लिए स्त्री को लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी है। लोकसभा चुनाव में स्त्रियों की संख्या अनुपात में बहुत कम है। **आज राष्ट्रीय संसद में स्त्रियों की संख्या के क्रम में विश्व में भारत का स्थान एक सौ उनपचासवां है।** सन 1952 के चुनाव में बाईस महिलाएं थी। सन 1957 में भी बाईस की संख्या थी। सन 1962 में यह संख्या 31 हुई। सन 1967 सन 1971 और सन 1976 में 29, 28 और 19 थी। सन 1966 से सन 1977 के कालावधि में भारत की प्रधानमंत्री एक स्त्री थी। इस दृष्टि से इन्दिरा गांधी का विश्व की राजनीति के इतिहास में स्थान द्वितीय है। प्रथम स्थान पर श्रीलंका की सिरिमाओ बंदारनायके हैं। सन 1980 के लोकसभा चुनाव में अट्ठाइस महिलाएं चुनी गई और इंदिरा गांधी की हत्या के बाद सन 1984 के चुनाव में 43 महिला, यह उच्चांक था। इसके बाद

एकाएक यह अनुपात घट गया, पर बाद के चुनाव याने 1991 में 41, सन 1996 में 40, सन 1998 में 43, सन 1999 में 49, 2004 में 45, 2009 में 59 और सोलहवें लोकसभा चुनाव में साठ का आंकड़ा लांघकर आज 66 महिलाएं हैं। यह तीगुनी संख्या वृद्धि है, पर विश्व के क्रम में अभी भी भारत का स्थान बहुत नीचे है। प्रथम बीस देशों में फ्रांस, स्वीडेन, नार्वे, फिनलैंड, स्पेन, न्यूजीलैंड, अर्जेनटाईना, मैक्सिको, मोझांबिक, इथोपिया, दक्षिण अफ्रिका हैं, इनमें विशेष लक्षणीय अफ्रिका का रवांडा देश भी है। जहाँ 2003 के नए कानून के मुताबिक संसद में तीस प्रतिशत स्थान महिलाओं के लिए रक्षित किया गया।

भारतीय संसद में महिलाओं के लिए आरक्षित कोटा रखने के संबंध में एक विधेयक नब्बे के दशक में संसद में रखा गया था, पर वह मंजूर नहीं किया गया, यह भी दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। यह बात जरूर है कि जर्मनी ब्रिटेन में दो बार, न्यूजीलैंड में तीन बार, भारत और श्रीलंका में तीन बार, पाकिस्तान व थाईलैंड में एक बार महिलाएं देश की राजनीति में प्रधान मंत्री पद तक पहुंची हैं। ब्राजील, फिलिपिन्स में दो बार इंडोनेशिया में एक बार राष्ट्रध्यक्ष राष्ट्रपति पद पर रही हैं। बांग्ला देश की राजनीति तो आज महिला के चतुर्दिक ही घूम रही है। ब्रह्म देश मयनमार में तो आज स्त्री का ही वर्चस्व है। कई देशों में परराष्ट्र संबंध विभाग संरक्षण विदेश नीति निर्धारण विभाग महिलाएं ही संभाले हुए हैं। अभी भारत की राष्ट्रपति एवं वित्तमंत्री स्त्रियां हैं। यहां यह बताना रोचक होगा कि साम्यवादी शासन व्यवस्था वाले एक भी देश चीन, क्यूबा, सोवियत संघ में आज भी राजकीय उच्च पद पर महिला नहीं है। किसी भी देश की शासन प्रणाली में महिलाओं के सहभाग होने के दो तीन महत्वूपर्ण कारणों में परिवार की पृष्टभूमि प्रमुख है। यद्यपि अनेक महिलाओं ने अपने काम की मुहर भी लगाई है। मलेशिया में आज उप-प्रधान मंत्री पद को भूषित करती वान अजीज वान इस्माईल हैं जो अपने पति के जेल में बंद किये जाने के बाद एक जोखिम लेकर संघर्ष करती रही। अपने पति को जेल से मुक्त करा अपने पति को न्यायोचित जगह भी दिलवाई। इसी प्रकार से इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकार्णो की पुत्री मेघवती सुकार्णो 2001 में इंडोनेशिया के राष्ट्रपति पद पर आसीन हुई तथा जर्मनी की अंगेला मर्कल, ब्रिटेन की मार्गारेट थैचर, न्यूजीलैंड की जसिंडा केट लॅरेल आर्डेन हैं। इंटरनेशनल यूनियन ऑफ सोशलिस्ट यूथ के अध्यक्ष पद पर रहते इन्होंने विश्व का भ्रमण किया। अमेरिका, जार्डन, इस्राईल, चीन, अल्जेरिया के युवाओं के साथ उन्होंने राजनीति के मुद्दों पर चर्चा की।

जेंसिंडा, क्लार्क को अपना पोलिटिकल हीरो मानती हैं। जेसिंडा ने महिलाओं की समस्या उठायी जैसे गर्भ धारण करना, शिशु को जन्म देना, स्तन-पान कराना नवजात बालक को बड़ा करते आती मठिनाइयों का सामना करना, जरा सी भी चूक होने पर शिशु का प्राण गंवाना। प्रधानमंत्री पद पर आसीन रहते गर्भवती हो शिशु को जन्म देने वाली दो महिलाएं हैं। एक पाकिस्तान के प्रधानमंत्री पद पर रही बेनजीर भुट्टो और दूसरी जेंसिंडा केट लोरेल। ब्रिटेन की कन्जरवेटिव्ह पार्टी की सदस्य और मंत्री पद पर रहती भारतीय वंश की प्रीति पटेल हैं। जिन्होंने राजनीति में प्रवेश करते ही महिलाओं की सुरक्षा, स्वास्थ्य और शिशु संगोपन के लिए कुछ नियम लागू किये। युगांडा की नागरिकता ले रहती इदी अमीन की कन्या। ब्रेग्झिट की ओर से प्रचार करने में वह अग्रणी रही। तीन बार वह चुनाव जीती थी। वह कुछ काल तक मंत्री भी रही। तुलसी गबार्ड का नाम तो आज सर्वत्र चर्चित है। समोआ में जन्मी, पिता ईसाई और माता हिन्दू की कन्या भारतीय संस्कृति के प्रति विशेष श्रद्धा रखती तुलसी गवार्ड अमेरिका के संसद में हवाई स्टेट से चुनाव जीत कर कार्यरत हैं। आज अमेरिका में गर्भपात कायदा, समलिंगी विवाह, कुमारी माता का बालक को जन्म देना, लिव्ह इन रिलेशनशिप, पुरुष की संपत्ति में अधिकार आदि अनेक प्रश्नों को लेकर वह कार्यरत हैं। भारत में भी मीरा कुमार, सुषमा स्वराज, किरन बेदी, सुमित्रा महाजन, निर्मला सीतारमन, अल्वा मार्गारेट, मृदुला सिन्हा, ममता बनर्जी, मायावती और अनेक महिलाओं के नाम गिनाये जा सकते हैं जो संघर्ष करते-करते ऊंचाइयों को छूने में समर्थ हुई हैं।

विशेष रूप में मैं आपका ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहती हूं कि **स्त्री पुरुष समानता का प्रश्न आज**

भी समस्या ही है और बैलेंस फार बैटर के लिए महिलाओं को बहुत कुछ करना है और 'बैलेंस फॉर बैटर' की सचमुच की स्थिति आज है क्या? जैसे महिलाएं अपने लिए वोट का प्रचार करने के लिए जब घर के बाहर निकलती हैं तब उन्हें एक नहीं अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। सबसे प्रमुख समस्या तो एक दो घंटे बाद जब उन्हें नैसर्गिक क्रिया की आवश्यकता अनुभूत होती है तब उनकी स्थिति बड़ी अजीब हो जाती है। साथ में यदि श्वसुर बुजुर्ग, कभी कभी वरिष्ठ पदाधिकारियों, पुलिस अंग रक्षक, वरिष्ठ-कनिष्ठाधिकारी, कर्मचारी और अधीनस्थ भी साथ होते हैं और ऐसे उन उन महिलाओं के लिए योग्य स्थान ही नहीं होता। दो-दो तीन-तीन मील दूर तक उन्हें भागना पड़ता है, योग्य स्थान की खोज में, अस्वस्थ अवस्था में बैठना पड़ता है। शरीर पर, स्वास्थ्य पर तो बुरा प्रभाव पड़ता ही है साथ ही मन को भी वे स्थिर नहीं रख पाती हैं। अपने काम के साथ भी न्याय नहीं कर पाती हैं। 'बैटर' के लिए इसका विचार कर सुरिक्षत अनुकुल स्वच्छ सुंदर स्थानों की जरूरत है। इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। आज कार्यालयों में काम करती महिलाओं की संख्या में वृद्धि हुई है। उन्हें प्रसूति पूर्व और प्रसूति के उपरांत पूर्ण विश्रांति के लिए छुट्टी का प्रावधान किया गया है। महिलाएं उससे लाभान्वित हो रही हैं, पर उस समय के बाद भी शिशु को माता के दूध की जरूरत होती है। जेंसिंडा तो अपने बच्चे को एक मिटिंग में लेकर आई थीं कि बालक को वह समय पर स्तन पान करा सकें। बच्चे का वह अधिकार है और जन्मदात्री का फर्ज, पर आज हमारे देश में हजारों महिलाएं हैं, सरकारी कार्यालयों में काम कर रही हैं, पर शिशु को स्तनपान कराने के लिए किसी भी प्रकार की सुविधा नहीं होती, उसके लिए सुरक्षित एक स्थान कक्ष की सुविधा होनी चाहिए, जहां वह एक दो घंटे के बाद जाकर अपने शिशु को स्तनपान करा कर चिंता मुक्त हो सके। संभवतः इसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता है। बेटर के लिए इसका भी विचार किया जाना अपेक्षित है। यहां एक विशेष घटना का उल्लेख करना योग्य समझती हूं। राजस्थान में एक उच्च पदस्थ अधिकारी अपनी प्रसूति के अवकाश के उपरांत कार्यालय में काम करने लगी थी। दौरे पर जाती तब अपनी पांच महीने की बच्ची को तीन घंटे के बाद से स्तनपान कराने के लिए उसे सुरक्षित जगह की खोज करनी पड़ी थी। बच्ची की सुरक्षा करती बाई उस बच्ची के साथ कार में ही बैठी होती। योग्य स्थान की सुविधा न होने के कारण उसे गाड़ी में बैठकर ही बच्ची को स्तनपान कराने के लिए बाध्य होना पड़ता था। उद्योजक महिलाएं और जो सब समय टूरिंग और मार्केटिंग से जुड़ी हुई हैं उनकी कठिनाइयों का तो कोई अंत ही नहीं है।

शालिनी नामक महिला बुद्धिमती, उच्च पदवी प्राप्त कर, उच्च पद पर शासकीय नौकरी में, विवाहोपरांत जिस घर में उसने प्रवेश किया, उस घर में उसके गुणों की कदर थी। पति का पूरा सहयोग था। सास-ससुर भी उस पर बेटी जैसा ही प्रेम करते थे। तीन चार साल तो सब ठीक ही चल रहा था। अकस्मात सासुजी बीमार हो गई और उन्हें अस्पताल में रखना पड़ा, दवा और देखभाल में कोई कमी नहीं हुई थी, पर दस दिनों में ही उन्होंने अपने को इस धरा धाम से अलग कर लिया। घर में श्वसुरजी अकेले, उनकी देखभाल करने के लिए एक सहायक तो रख लिया था पर परिवार की जिम्मेदारियों को निवाहने के लिए शालिनी को अपने कैरियर को बनाते हाथ आए अवसरों को छोड़ देना पड़ा। उच्च पद पर आसीन थी, पद की प्रतिष्ठा थी, जिम्मेदारियां भी बहुत थी, अपने काम में किसी भी पुरुष से कम नहीं, आगे की प्रगति के लिए उसे सारे रास्ते सुगम थे। इतना सब होते हुए भी उसने सिर्फ अपने ससुर जो वृद्ध है उन्हें मानसिक आधार देने के लिए नौकरी से इस्तिफा दे दिया। वह घर में रहती थी, पर साल के भीतर ही उन्होंने भी इस जगती से अपना नाता तोड़ परम धाम वासी हो गए। पति भी शासकीय पदाधिकारी थे। सब समय कार्य में व्यस्त रहते, दोनों बेटे अब अपनी पढ़ाई पूरी कर नौकरी में लग गए थे। उनके अपने सपने थे, उड़ान भरने के दिन थे। दोनों अपने-अपने काम में व्यस्त रहते थे। शालिनी को अब अपना समय घर में बिताना कठिन हो गया था। अतः उसने पुनः नौकरी के लिए एक दो स्थानों पर आवेदन भेज दिया। इंटरव्यू के लिए बुलाया गया, वहां अधिकारी ने एक नहीं अनेक सवाल किये। पहला

सवाल कि सास-ससुर की देखभाल करने के लिए नौकरी छोड़ने की क्या जरूरत थी। दिन भर की आया की नियुक्ति हो सकती थी। जरूर कोई और कारण होगा। उसके चरित्र पर शक की सूई ठहरना तो सामान्य बात। दूसरा सवाल तीन साल का गैप बहुत होता है। आपके काम करने की अब आदत कम हो गई है। ठीक है हम आपको काम पर तो रख लेंगे पर वेतन में समझौता करना पड़ेगा। पगार में भी कांट-छांट आपको स्वीकारनी ही होगी। मरता क्या न करता। उसने सभी शर्तें स्वीकार कर अपनी स्वीकृति दे दी।

दूसरी घटना निशा की एम. बी. ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण, राजस्व विभाग में सनदी अधिकारी, विवाह के बाद भी कार्यरत रही, एक शिशु का जन्म हुआ। बच्चे को बड़ा करने और उस पर योग्य संस्कार करने के विचार से उसने नौकरी से इस्तिफा देने का निर्णय लिया। वह खुश इसलिए थी कि योग्य समय में जिस समय बच्चे को मां की ही सबसे ज्यादा जरूरत होती है, उस समय उसने यह निर्णय लिया था। जब बच्चा समझदार हो गया और वह भी पूर्ण निश्चिंत हो गई कि वह पुनः नौकरी करने जा सकती है। कई कंपनियों में उसने आवेदन पत्र और इंटरव्यू दिए, उसके सामने अनेक सवाल खड़े किये गये। पहला सवाल अनेक महिलाएं आज नौकरी कर रही हैं उनका भी परिवार है वे भी बच्चे का संगोपन तो कर ही रही हैं फिर आपने अपने बच्चे के लिए विशेष क्या किया है। अब वह क्या बताये। ऐसी विकट स्थिति में उसे अपने आप से संघर्ष करना पड़ता है। जब वह पुनः अपने स्थान पर लौटना चाहती है तो उसका जो मानसिक संघर्ष होता है उसमें उसकी सहायता करने वाले कितने लोग हैं?

नेशनल सैम्पल सर्वे ऑफ इंडिया ने महिलाओं के श्रम की अर्थव्यवस्था में सहभाग की एक रिपोट वर्ष 2011-12 को पेश करते हुए लिखा है कि गत बीस साल में महिलाओं की नौकरी में 47 प्रतिशत से 37 प्रतिशत याने दस प्रतिशत घटौती हुई है। इस रिपोर्ट में आंगनबाड़ी और पूर्व प्राथमिक कक्षाओं की शिक्षिकाओं की गणना नहीं है। आप सवाल करेंगे कि यह कैसे संभव है। आज तो सर्वत्र महिलाएं काम करती ही नजर आती हैं, पर यह देखा गया है कि विवाहोपरांत काम करती महिलाओं की संख्या में घटती हो रही है। कारण बच्चे को जन्म देना उसका संगोपन, परिवार की देख-रेख घर में यदि वृद्ध सास-ससुर हैं तो उनकी देखभाल करना, माता-पिता वृद्ध हैं और वह एकलौती संतान है तो उनको भी संभालना। इसके लिए मैरेज पेनल्टी मदरहुड पैनेल्टी यह शब्द अब व्यवहार में आ गया है। कैरियर करती महिलाओं को उसकी कीमत चुकानी पड़ी है।

बच्चों के लिए झूलाघर हैं, वृद्धों के लिए वृद्धाश्रम हैं, प्रसूतिपूर्व छुट्टी, उसके बाद भी विश्राम अवकाश ये सुविधाएं अब महिलाओं को मिल रही हैं फिर भी बहुत कुछ करना है। 'बैलेंस फार बेटर' कैरियर ब्रेक में कुछ और सीखने कार्यक्षम होने के लिए एक उपक्रम सन 2008 में गोल्डमन स्नैच बैंकिंग क्षेत्र में काम करती महिलाओं के लिए शुरू किये गये हैं। अमेरिका और ब्रिटेन में कैरियर ब्रेक महिलाओं की सहायता के लिए काम करती संस्थाये हैं। वुमन रिटर्नर्स प्रोफेशनल नेटवर्क, यह संस्था आज इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम कर रही है। भारत में सायरी चहल ने इस क्षेत्र में काम करने की शुरूआत की है। मुंबई में भी इस प्रकार से एक संस्था घाटकोपर में और दूसरी अंधेरी में काम कर रही है। महिलाएं पुनः अपने कैरियर के लिए ब्रेक के बाद काम करने के लिए उत्सुक हैं तो उन्हें सुविधाएं मुहैय्या करा देना जरूरी है। अंशकालिक काम की सुविधा हो। काम के स्थान पर झूलाघर हो। स्कूल जाते शिशु को स्कूल के बाद के एक दो घंटे अपने कार्यालय में रखने की व्यवस्था हो। कैंटिन की सुविधा हो, वहां रियायती दर पर उत्तम ताजा शुद्ध भोजन की सुविधा हो, बैलेंस फार बेटर के लिए इस प्रकार के मुद्दों पर विचार करना और काम करना आवश्यक है। ये महत्वपूर्ण मुद्दे हैं जिन पर महिलाओं के विचार मैं जानना चहूंगी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप अपने सुझावों से मुझे समृद्ध करेंगी। अनेक धन्यवाद। ■

डॉ. विद्या केशव टिवको
सेवानिवृत्त निदेशक, पुणे विद्यापीठ
मो. 9527313387
ई-मेल : chitkovidyak@gmail.com

प्रतिस्वर

मार्च-अप्रैल 2022 का धर्म-दर्शन पर केंद्रितअंक मैने पढ़ा। पत्रिका वास्तव में एक शोध पत्रिका है। विद्वान लेखकों ने विभिन्न विषयों पर गहन चिंतनपरक लेख लिखे हैं। आपने संपादकीय में ठीक लिखा है कि विभिन्न मानव समूह ईश्वर या देवता के रूपस्वरूप को लेकर लड़ने भिड़ने लगे, मारकाट भी आपस में करने लगे। आपने बिल्कुल सही बात कही है। धर्म को लेकर मानव जाति में बहुत युद्ध हुए मारकाट हुई। Crusade इसका ज्वलंत उदाहरण है। धार्मिक मान्यताओं का प्रायः कोई-ठोस कारण नहीं होता। धर्म, संस्कृति को प्रभावित करता है। खान पान, रहन सहन को भी प्रभावित करता है। हिन्दू भाई-धोती पहनते हैं पर मुसलिम या ईसाई-भाई धोती नहीं पहनते। हिन्दू स्त्रियां मांग में प्रायः सिन्दूर भरती हैं, माथे पर टीकी लगाती हैं पर मुसलिम स्त्रियां ऐसा नहीं करती। हम हिन्दू गाय को माता मानते हैं पर अन्य धर्मावलम्बी ऐसा नहीं मानते हैं। आपकी विद्वता का हार्दिक अभिवादन। 'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान सर्वत्र पूज्यते।' अंक में आपने राजा रवि वर्मा के विषय में काफी जानकारी दी। उनके द्वारा बनाए गए चित्र भी छापे। सरस्वतीजी, लक्ष्मीजी और राम दरबार के चित्र भी छापे। रामदरबार का जो चित्र आपने छापा वो बहुत लोकप्रिय रहा है। घर-घर में यह तस्वीर रहती थी। दमयंती हंस का चित्र भी काफी लोकप्रिय रहा।

गौरीशंकर अग्रवाल
अक्षरा विलास बिल्डिंग, कोलकाता,
मो. 9836811228

'वैचारिकी' के मार्च-अप्रैल अंक जनवरी-फरवरी 2022 के दोनों अंक संप्राप्त। आपके सौहार्द से अभिभूत हूं। आपने दोनों अंकों में वैविध्यपूर्ण, शोधमूलक एवं महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है कि सुखद विस्मय होता है। आदरणीय डॉ. मूंधड़ाजी का अध्यक्षीय चिंतन एवं बंधुवर डॉ. बाबूलाल शर्मा का विशद संपादकीय, संकलित विद्वज्जनों के आलेखों को आत्मसात करने में बेहद उपादेय/सहायक सिद्ध होते हैं। पाठक मंच एवं प्रतिस्वर का अपना वैशिष्ट्य एवं महत्व है। उनसे भी पाठकों को पठनीय एवं मननीय सामग्री प्राप्त होती है। आपका अप्रतिहत संपादकीय पुरुषार्थ सर्वथा प्रणम्य है। वैचारिकी का भविष्य समुज्ज्वल हो, आप स्वस्थ-निरामय रहें और दीर्घायु हों-यही मंगलकामना एवं ईश्वर से प्रार्थना।

-प्रो. भगवानदास जैन,
अहमदाबाद
(गुजरात) 382445

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी. आ. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक- डॉ. बाबूलाल शर्मा।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों-शहीदों को कृतज्ञ नमन

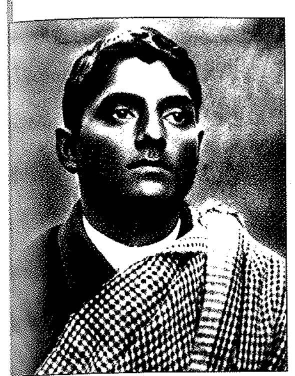
बाघा जतिन

प्रफुल्ल चाकी

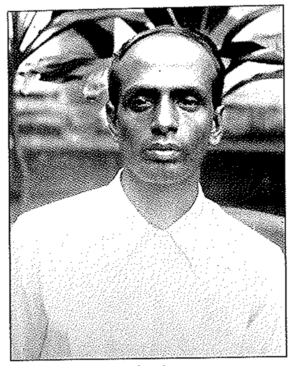
सूर्य सेन

जतीन दास

गोपीनाथ बोरदलाई

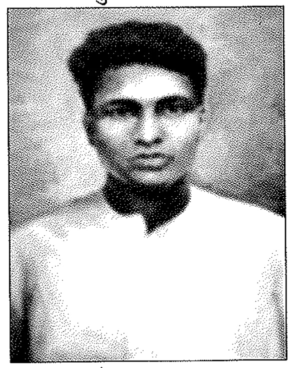
दिनेश चंद्र गुहा

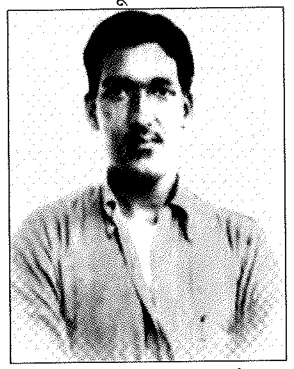
असफाकउल्लाह खाँ

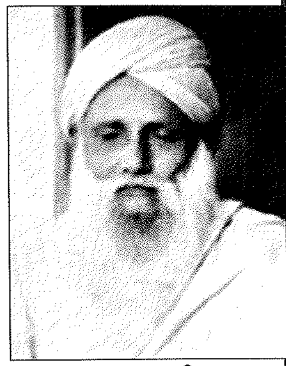
भावाभूषण मित्रा

गोपाल कृष्ण गोखले

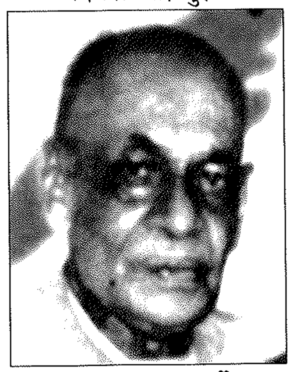
योगेशचंद्र चटर्जी

राजेंद्र लाहड़ी

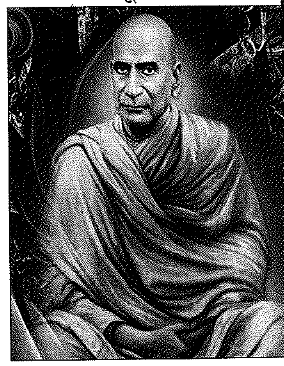
स्वामी श्रद्धानंद

बाल गंगाधर तिलक

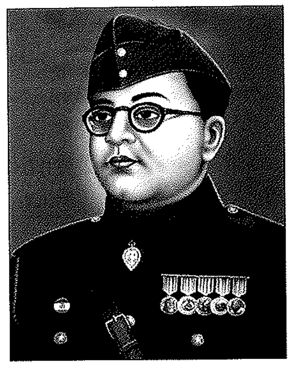
नेताजी सुभाष चन्द्र बोस

महात्मा गांधी

....और वे जिनके चित्र स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिए जा सके।

VAICHARIKI Bi-Monthly • ₹70/- July - August 2022 R.N.I. No. 22298/71

From	TO
BHARATIYA VIDYA MANDIR 12/1, Nellie Sengupta Sarani Kolkata - 700087 *(W.B.)*	

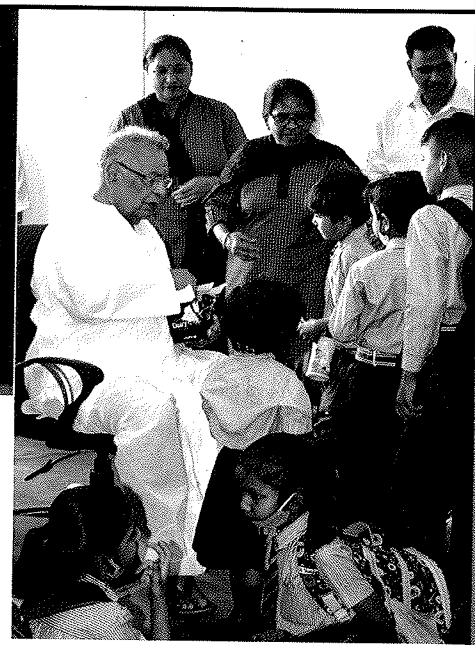

G.D.M. Public School

Near Govt. DIET Office, Pugal Road, Bikaner

Admission Open for session -

2022-2023

Email- gdmpublicschool4922@gmail.com